दयानन्द कालिज अनुसन्धान विभाग द्वारा
प्रकाशित

मुद्रकः—
हिन्दी इलैक्ट्रिक प्रैस मैक्लेगन रोड लाहौर ।

* ओ३म् *

समर्पण

पूज्य श्री महात्मा हंसराज जी जिन के अप्रतिम त्याग अगाध देश प्रेम
और अथक कर्मण्यता ने हमारे प्रान्त की हिन्दु जनता में एक
नए जीवन और उत्साह का सञ्चार किया है, जिनका
उदात्त चरित्र हम नवयुवकों का आदर्श है,
जो श्रीमद्दयानन्द कालेज के जन्मदाता और
रिसर्च विभाग की आत्मा हैं, जिनके
संरक्षण में मुझे भारतीय इतिहास के
अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है,
उन महानुभावों के करकमलों
में यह पत्रपुष्पोपम भेंट
सादर समर्पित
है।

FOREWORD.

HISTORY OF GREATER INDIA.

In that far off age of glory during which India was the pioneer of Asiatic culture having extended her geographical sphere of influence to the furthest bounds of the Pacific, Cambodge (or modern Cambodia) was the crown jewel of Indian colonies forming the cultural federation of Greater India. The history of the formation and progress of these colonies is really a great Epic as marvellous in its details as elevating in its *ensemble*. That history was long forgotten by us in our age of degradation but with the awakening of self-respect and self-confidence in these days of national renaissance, our people are hungering more and more for the data of this positive aspect of our national history in which we were not satisfied merely with our own progress and salvation but were eager to distribute all that was best in usede amongst our neighbours of old without any distinction of race, creed or culture. Any episode or chapter of this grand history will be of ennobling and inspiring influence to us today and Professor Veda Vyâsa has earned the gratitude of us all by publishing his "HISTORY OF GREATER INDIA', Vol. I in Hindi, the language of

our masses who once helped in the formation of the cultural Empire of Hindusthan and who may again in near future begin to collaborate with the cultured classes in founding the Greater India of the future. Professor Veda Vyasa has devoted several years to the study of the history and archaeology of the Hindu colonies and we see the fruit of his patient researches in the present volume on Cambodge which is only the earnest for other volumes in preparation. Professor Veda Vyasa is an ardent champion of the Greater India movement and is busy organizing the Punjab branch of the Greater India Society. So we have great joy in announcing this first Hindi volume of his work before the public. While the book is popular in style, it is based on a thorough knowledge of the original documents and the author, being a keen student of Epigraphy, has happily enlivened his narration by apt quotations from inscriptional records of Indo-China recovered and edited by the great school of French savants from Bergaigne and Berth to Finot and Coedes.

Sd. KALIDAS NAG,
M.A., D. LITT. (PARIS),
Hon'y. Secy. Greater India Society,
Calcutta.

प्राक्कथन।

विश्रुति के उस दूरवर्ती युग में जब भारतवर्ष एशिया की संस्कृति का पथ-प्रदर्शक था, वह अपने प्रभाव के भौगोलिक क्षेत्र को शान्त महासागर की अत्यन्त दूरवर्ती सीमाओं तक प्रसारित कर चुका था, काम्बोज (अथवा आधुनिक कम्बोडिया) विशाल भारत के सांस्कृतिक एकीकरण करनेवाले भारतीय उपनिवेशों का मुकुट-मणि था। इन उपनिवेशों की रचना और उनके अभ्युदय का इतिहास वस्तुतः एक महान् वीर-काव्य है, जो अपने प्रपञ्च में इतना ही विस्मयावह है जितना कि वह समष्टि रूप से उत्कर्षकारी है। इस इतिहास को हम अपने अधोगति के युग में कभीके विस्मरण कर चुके थे किन्तु आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास के प्रबोधन के साथ साथ जातीय पुनरुत्थान के इसयुग में हमारे जातीय इतिहास की इस निश्चयात्मक अवस्था की उस अवस्था की जिसमें हम केवल अपनी ही उन्नति और मुक्ति से सन्तुष्ट नहीं थे किन्तु हम में जो कुछ उत्कृष्ट था उसे बिना किसी जाति, मत अथवा संस्कृति के भेदभाव के अपने प्राचीन पड़ोसियों में वितरण करने के लिए उत्सुक थे प्रमाणसामग्री के लिए हमारे लोग अधिकाधिक सतृष्ण हो रहे हैं इस भव्य इतिहास का कोई भी आख्यान अथवा अध्याय आज हमारे लिए महनीय और अनुप्राणित करनेवाला प्रभाव होगा और पण्डित वेदव्यास हमारे जनसाधारण की, जिन्होंने एक समय हिन्दुस्तान के सांस्कृतिक साम्राज्य की सृष्टि में सहायता दी थी और सम्भवतः फिर निकटवर्ती भविष्य

में भविष्य के विशाल भारत को बनाने में संस्कृत वर्गों के साथ सहकारिता प्रदान करने लगेंगे, उनकी भाषा हिन्दी में "विशाल भारत का इतिहास" प्रथम भाग प्रकाशित करने से हम सब की कृतज्ञता के भाजन बने हैं। पण्डित वेदव्यासने हिन्दू उपनिवशों के इतिहास और पुरा तत्त्वविज्ञान के अनुशीलन में कई वर्ष लगाये हैं और हम काम्बोज-विषयक वर्तमान ग्रन्थ में, जो तैयार होने वाले दूसरे ग्रन्थों का केवल आरम्भ मात्र है, हम उनके श्रम साध्य अन-वेषणों का फल देखते हैं। पं० वेदव्यास विशाल भारत आन्दोलन के उत्साही सञ्चालक हैं और Greater India Society (विशाल भारत संघ) की पञ्जाब शाखा के संगठन में संलग्न हैं अतएव हमें पं० वेदव्यास के इस विषय के प्रथम हिन्दी के ग्रन्थ को जनता के सामने उद्घोषित करने में बड़ा हर्ष होता है। जब कि पुस्तक शैली में लोक प्रिय है, वह मौलिक लेखों के पूर्ण ज्ञानके आधार पर लिखी गई है, और ग्रन्थकार ने पेपि-ग्रफी का विद्वान होने से अपने आख्यान को इराडो चायना के शिलालेखों के उपयुक्त उद्धरणों से रोचक बनाया है जो कि बर्गेन्य और बार्थ जसे फ्रेञ्च विद्वानों से लेकर फीनों और काडे तक ने पाए हैं और उनका सम्पादन किया है।

कालिदास नाग
M. A. D. Litt (Paris)
आनरेरी सैक्रेटरी,
ग्रेटर इरिडया सोसाइटी
कलकत्ता।

विषय-सूची ।

विशाल भारत का इतिहास

पहला भाग

कम्बोडिया का हिन्दू उपनिवेश

उपोद्‌घात और अनुश्रुति

क्या प्राचीन हिन्दू गृह-स्थायी थे ?—चिरकाल से विद्वानों की धारणा रही है कि प्राचीन हिन्दू लोग 'गृह-स्थायी' (Stay-at-home) थे—अनुल्लंघनीय धार्मिक बन्धन उन्हें बाहर निकलने से रोकते थे, भौगोलिक परिस्थिति भी विदेश-यात्रा के अनुकूल न थी। इधर शास्त्रों की आज्ञा, उधर एक ओर आकाश से बातें करने वाली, कभी न समाप्त होने वाले बर्फ़ से ढकी हुई दुरारोह पर्वत-मालाएँ और मनुष्य के प्राणों पर खेलने वाले भयावह जन्तुओं से भरे हुए दुर्गम वन, और दूसरी ओर अनन्त अगाध श्यामवर्ण जल-राशि; घर में नव निधि अष्ट सिद्धियों की अठखेलियाँ—शारीरिक सुखोपभोगों के साधनों की प्रचुरता, प्रकृति का असीम अनुग्रह ! फिर ऐसी दशा में विदेश जाकर कौन अपने धर्म और प्राणों को संशय में डालने लगा था ? विदेश जाने की कौन कहे, रत्न-प्रसू निखिल-रस निर्भरा सस्यश्यामला भारत-

वसुन्धरा में जन्म लेकर फिर कौन सा ऐसा प्रलोभन रह आता था जिसकी प्रेरणा से कोई स्वर्ग के लिए भी उत्सुक होता !

"दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः ।"

किन्तु यह सब भ्रान्ति थी, अँधेरे की भावनाएँ थीं। कतिपय फ्रेंच विद्वानों और पुरातत्त्वविदों के श्लाघ्य प्रयत्नों से आज हमारा ऐतिहासिक क्षितिज कुछ पीछे हट चला है—अतीत के रङ्गमञ्च पर से पर्दा कुछ ऊपर उठ आया है और हमें दूर पर एक सुन्दर चेतोहारी दृश्य दिखाई देने लगा है; हिन्द महासागर की कृष्ण जल–राशि से परे सुदूर पूर्व में प्राचीन भारत की वाणिज्य-विषयक कर्मण्यता और उसका औपनिवेशिक प्रसार इस समय हमारे ऐतिहासिक अन्तरिक्ष पर एक निराली छटा दिखलाने लगे हैं।

भारतीय संस्कृति का सुदूर पूर्व में विस्तार— विजयी सिकन्दर के समय से—और सम्भवतः उससे भी पूर्व, उद्बोधन के उस युग में जब हमारी कर्मण्यता विचार–स्वप्न की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी, भारतीय संस्कृति ने बाढ़ की नदी की भाँति इन्दोचीन और मलाया द्वीपसमूह में प्रवेश किया, काल-क्रम से उसने कम्बोडिया के गहन अरण्य-प्रदेशों को आक्रान्त और आप्लावित करके उन्हें एक शक्तिशाली साम्राज्य में तबदील कर दिया। ब्राह्मण और वणिक्, बौद्ध भिक्षु और पराक्रमशील पुरुष, सभी प्रकार के उत्साही लोगों ने सुवर्ण-भूमि के नाम से प्रसिद्ध उन दूर-

वर्ती भूमि-भागों में उपनिवेशों की स्थापना से अपने आप को समृद्ध बनाने के लिए मद्रास के समुद्र-तट से प्रस्थान किया। वे अपने साथ मातृ-भूमि की सभ्यता और धार्मिक विचारों को, अपनी प्राचीन, सम्पन्न एवं व्युत्पन्न संस्कृत भाषा की ज्ञान-सम्पदा को, ले गए।

चाम और खमेर—श्याम की खाड़ी के उस पार उन्हें चाम और खमेर नाम की दो जातियाँ मिलीं जो उस समय तक जन-संख्या की दृष्टि से काफ़ी वृद्धि कर चुकी थीं।

चाम बड़े भारी विस्तार के युग के बाद चम्पा (आधुनिक अनाम जो सम्भवतः उनकी जन्म-भूमि थी) के तटों और उसकी घाटियों में परिमित थे।

खमेर लोग अपनी अनुश्रुति के अनुसार उत्तर-पूर्व में बीरमान-प्रदेश से आये थे। यह बात इससे भी पुष्ट होती है कि सिंहावती-(Pegu.) निवासी जो अब भी बीरमानी में रहते हैं, उनसे दूरवर्ती किन्तु निर्विवाद सादृश्य रखते हैं, शारीरिक गठन और आकृति में उनसे मिलते जुलते हैं। खमेर लोगों ने महानद मेकाँग के डेल्टा से, उस उर्वरा भूमि से जहाँ असंख्य सरोवर और तड़ाग विस्तार और गहराई में एक प्रबल वार्षिक बाढ़ से बढ़ कर दसगुना हो जाते हैं, जहाँ कृषि, आखेट और मत्स्यजीविता जीवन के अपरिमेय साधनों को उपस्थित करते हैं, उस आनन्द-निष्यन्दिनी भूमि से, चामों को निकाल बाहर किया और स्वयं उसके प्रभु बन बैठे।

यहाँ उन्होंने एक राज्य के सङ्गठन की आयोजना की, जिसका उल्लेख चीनी लेखकों ने 'फूनान' नाम से किया है।

प्राचीन फूनान और कम्बोडिया का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था, यह प्रश्न अभी विवादास्पद है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कम्बोडिया उत्तरवर्ती काल में फूनान ही का दूसरा नाम है। किन्तु अधिक प्रचलित मत के अनुसार कम्बोडिया एक सामन्त-राज्य था जिसने सन् ईस्वी की छठी शताब्दी में फूनान की राज-धुरा को अपने कंधों से फेंक डाला और धीरे धीरे विनाशोन्मुख साम्राज्य के मध्य प्रान्तों को अपने में मिला लिया।

कौण्डिन्य का आगमन—फूनान-साम्राज्य में कोचीन चीन, कम्बोडिया, निचला लाओस, श्याम और मलाया प्रायःद्वीप सम्मिलित थे। इस प्राचीन फूनान पर भारतीयता की मौलिक छाप का विवरण एक अनुश्रुति के अनुसार, जिसे दो चीनी यात्रियों ने वहीं जाकर संगृहीत किया था और जो उस समय दो सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं थी, संक्षेप से नीचे दिया जाता है—

सन् ईस्वी की पहली शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कौण्डिन्य नामी एक ब्राह्मण को किसी देवता ने स्वप्न में एक धनुष दिया और उसे जहाज में समुद्र-यात्रा करने को कहा। सवेरा होते ही वह देव-मन्दिर में गया और उसने एक वृक्ष के नीचे दिव्य धनुष को पड़ा पाया, जहाज में बैठ कर वह कुछ व्यापारियों के साथ फूनान के लिये विदा हुआ। फूनान में उन दिनों एक युवती रानी राज्य करती थी। रानी और उसकी प्रजा नङ्गे रहते थे। उसने इस आगन्तुक का प्रतिरोध करना चाहा।

कौण्डिन्य ने अपने धनुष को उठा लिया और उससे एक तीर जो छोड़ा तो वह उस जहाज के पार्श्व से, जिसमें रानी बैठी थी, निकला और अन्दर किसी के जा लगा। रानी ने भीत-चकित होकर अभय की प्रार्थना की। कौण्डिन्य ने उसे अपनी पत्नी बना लिया, उसे वस्त्र पहनने की आज्ञा दी और उसके बिखरे हुए बालों को संवारा। इसके बाद इस विजयी ब्राह्मण ने वहाँ शासन किया और उस देश को सभ्य बनाया।

नागराज-कन्या सोमा—चीनी लेखक इस युवती रानी का नाम 'लिएऊ-ये' बतलाते हैं। जान पड़ता है उसके पति ने उसका नाम सोमा रक्खा। चम्पा के पड़ोसी राज्य का सन् ६५८ ई० का एक संस्कृत शिला-लेख कम्बोडिया की राज-धानी भवपुर का उल्लेख इन शब्दों में करता है—"यहीं ब्राह्मण-श्रेष्ठ कौण्डिन्य ने अपने भाले को जिसे उसने द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा से प्राप्त किया था स्थापित किया। यहाँ सोमा नाम्नी एक नागराज-कन्या थी जिसने इस भूमिभाग में राज्य की स्थापना की थी। कौण्डिन्य ने धर्मचर्य्या की सिद्धि के लिए उसके साथ पाणि-ग्रहण किया।"

स्थानीय अनुश्रुतियां—कम्बोडिया के इतिहास-लेखक भी इस प्रकार की पुराण-गाथाओं को संगृहीत करने में पीछे नहीं रहे हैं। उनके अनुसार भारतीय प्रवासी कोई ब्राह्मण नहीं किन्तु एक राजकुमार है जो अपने पिता से निकाला जाकर कम्बोडिया के भावी राज्य की सलिल-निर्भरा उपजाऊ भूमि में प्रवेश करता है। वहाँ से चाम लोगों को निकाल कर

वह सिंहासन पर अधिकार कर लेता है। समुद्र के रेतीले तट पर ज्वारभाटे की लहर से अभिभूत होकर वह वहीं रात बिताता है और वहाँ उसकी एक अलोक-सुन्दरी नागराज-कन्या से भेंट होती है। दोनों ही एक दूसरे के प्रेम में फँस जाते हैं और विना किसी विलम्ब के परस्पर पाणि-ग्रहण कर लेते है। दुलहिन का पिता पानी को, जो उस देश को आप्लावित किये हुए है, पीकर अपने जामाता की अधिकार-भूमि को विस्तृत कर देता है और उसके लिए एक अपूर्व राजधानी का निर्माण करता है।

इन सब कथाओं में स्त्री का कार्याभिनय प्रधान है। वही राजवंश की स्थापना करती है, वही राज्य की अधिष्ठात्री है, प्रवासी चरित्र-नायक नहीं।

लोगों का विश्वास था कि कम्बोडिया के राजा इस प्राक्तन दम्पती के समागम को हर रात पुनर्जीवित करते थे। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में एक चीनी यात्री लिखता है—

"अङ्कोर थाम के राज-प्रासाद में एक सुवर्ण का बुर्ज़ है जिस की शिखर पर राजा सोया करता है। सभी भारतीय यह दर्शाने की चेष्टा करते हैं कि बुर्ज़ में एक नौ-फन-वाले सर्प की आत्मा निवास करती है, जो सारे राज्य की भूमि का स्वामी है। नराधिप प्रथम उसी के साथ शयन करता है और फिर........यदि किसी रात को सर्प की आत्मा प्रकट न हो तो समझना चाहिए कि राजा का मृत्यु-समय निकट है। यदि राजा किसी रात को स्वयं आने से रह जाय तो उसे कोई विपत्ति आ घेरती है।"

सभी स्थानीय अनुश्रुतियों में नाग-कन्या का नाम अक्षरशः सुरक्षित है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आने पाया है; किन्तु उसके पति का भारतीय नाम ज्यों का त्यों न बना रह सका, उसके रूप में एकदम तबदीली हो गई।

आज भी कम्बोडिया की स्थापना करनेवाला यह अर्ध-दिव्य दम्पती विवाहोत्सव के आवश्यक विधान में अग्रिम स्थान रखता है। जबकि माता पिता युवा वर-वधू के चारों ओर घेरा बाँध कर बैठे हुए छोटी छोटी थालियों को, जिन में मोमबत्तियों की पवित्र अग्नि प्रज्वलित होती रहती है, चारों पास फिराते हैं, दिव्य थौंग और नाग-महिला के प्राक्तन एवं जातीय ताल में सदा विना किसी उपेक्षा के सवादित्र सङ्गीत होता है। ग्रीष्म की रमणीक रात्रियों के मध्य में झङ्कारित होकर उसके उदासीन स्वर धार्मिक श्रद्धा से सुने जाते हैं और हृदय में उन उद्गारों और रागात्मक भावनाओं को उत्पन्न करते हैं जो प्रायः आँसुओं के रूप में प्रकट हो उठते हैं।

——:o:——

फ़ूनान।
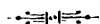
कौण्डिन्य के वंशज—सोमा से कौण्डिन्य के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके आधिपत्य में सात सामन्त-नगर थे। ज्ञान पड़ता है उसने अपने निरंकुश सामन्तों को मर्मान्तक असंन्तोष पहुँचाया और अपने पड़ोसियों के साथ कलह करने का कोई न कोई बहाना ढूंढ निकालने में वह निरन्तर तत्पर रहा। फ़ूनान की केन्द्रीय शक्ति कुछ शिथिल जैसी प्रतीत होती है, क्योंकि दूसरी शताब्दी के अन्त में उच्छृङ्खल सामन्त-वर्ग को फिर से अपने वश में करने के लिए कौण्डिन्य के पान-कुआंग नामी एक वंशधर को भेद-नीति का आश्रय लेना पड़ा। ६० वर्ष की दीर्घ आयु में राज्य अपने छोटे लड़के पान-पान को देकर यह राजा संसार से चल बसा। पान-पान ने राज्य-भार अपने प्रधान मन्त्री और जनरल फांचमान को सौंप दिया और जब तीन वर्ष के अल्प राजत्व-काल के बाद वह भी सनातन पथ का पथिक बना तो—सम्भवतः घरेलू झगड़ों और षड्यन्त्रों से तंग आई हुई—प्रजा ने फांचमान को ही अपना राजा बना लिया।

फांचमान—फांचमान कूट-नीतिज्ञ, व्यवहार-कुशल, वीर और उत्साही था। उसने पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध छेड़ा और उन्हें अपने अधीन कर लिया। बड़े बड़े जहाज

बनवा कर उसने महासागर के विस्तीर्ण वक्षःस्थल पर परिभ्रमण किया और अनेक राज्यों पर चढ़ाई करके पांच छः हज़ार लीग दूर तक अपनी अधिकार-सीमा का विस्तार किया। अधिकृत देशों में मलाया प्रायःद्वीप विशेष उल्लेखनीय है। टेनासरिम और मर्तबान मूलमेन प्रदेश तक भी उसकी धाक थी। उसकी निपुणता, उसकी विजयों और उसकी सेनाओं के पराक्रम ने फांचमान को महाराज की उपाधि धारण करने के लिए प्रेरित किया।

अपनी रण-यात्राओं के मध्य में, जब विजय-श्री हाथ बांधे दासी-भाव से उसके सम्मुख खड़ी थी, प्रतापी फांचमान को दुर्धर्ष शत्रु ने आ घेरा—वह सहसा बीमार पड़ा और कुछ ही समय में सदा के लिए रोगशय्या पर सो गया। फूनान का सूर्य मानो मध्याह्न होते होते अचानक अन्तर्हित होगया। राजलक्ष्मी संशय में पड़ी गई।

फान-चूआन——फांचमान ने रोग-ग्रस्त दशा में सैन्य-सञ्चालन का कार्य अपने ज्येष्ठ पुत्र फान-कीन-चेंग को सौंप दिया था; किन्तु वृद्ध महाराज की बड़ी बहिन के लड़के राजकुमार फान चूआन ने, जो पहले ही से सिंहासन पर दांत गड़ाए बैठा था, दो सहस्र निष्क्रीत सैनिक इकट्ठा किये जिन्हें लेकर वह अपने मामा के लड़के की घात में जा बैठा और अवसर पाते ही उसने उसे मरवा डाला।

फान-चूआन सिंहासन पर बैठा। उसका राज्यकाल सन् २३० और २५० ई० के अन्तर्गत माना जाता है। सन्

२४३ ई० में उसने चीन को दूत भेजे। फिर उसने एक और प्रतिनिधि-वर्ग भारत में मुरुण्डों के राजा के पास भेजा, जो उस समय गङ्गा की घाटी में राज्य करता था। इस दूर-वर्ती मिशन को, जिसका अधिष्ठाता राजा का आत्मीय 'सू-वू' था, भारत की यात्रा में चार वर्ष लगे।

राजकुमार चांग—मरते समय फांचमान अपने बड़े लड़के कीन-चेंग की हत्या का बदला लेने का काम अपने कनिष्ठ पुत्र चांग को छोड़ गया था। युवा राजकुमार चांग बीस वर्ष की आयु तक लोगों के मध्य में अज्ञात वास से रहता रहा, उसने राज्य की अधीनस्थ रियासतों से मैत्री स्थापित की और अन्त में वह अपने राज्यापहारी मामा के लड़के को प्राण-दण्ड देने में सफल-मनोरथ हुआ। किन्तु शीघ्र ही वह भी अपने राज-प्रासाद की अट्टालिका में जनरल फान-सिऊन से, जिसने कीन-चेंग की हत्या में भाग लिया था और फूनान के प्राचीन भारतीय राजघराने को स्वयं राज्य वापिस लेने का झूठा प्रपंच रचा था, क़त्ल किया गया।

फान-सिऊन—फान-सिऊन ने अपने राजा बनने की घोषणा की। एक बार राज-मुकुट का अधीश्वर बन जाने पर इस सामरिक अधिष्ठाता ने प्रजा पर शासन करने की असाधारण क्षमता प्रदर्शित की। उसने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। अतिथियों के मनोविनोद के लिए, जिनका वह दिन के तीसरे अथवा चौथे पहर स्वागत करता था, उसने अपने महल में अट्टालिकाएं और नाट्यशालाएं बनवाईं।

भारत में फूनान का प्रतिनिधि-वर्ग—उसे राज-काज सम्हाले बहुत समय नहीं हुआ था जब सन् २५२ ई० के लगभग सू-वू चार वर्ष की लम्बी यात्रा के बाद भारत से लौटा। अनेक राज्यों के तटों से होता हुआ लगभग एक वर्ष के भ्रमण के बाद फूनान का प्रतिनिधि-वर्ग गंगा के मुहाने पर पहुँचा था और ७००० लीग उसके उद्गम की ओर चलकर अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त हुआ था। इतनी दूर से आये हुए इन विदेशियों के दर्शन से मुरुण्ड-राज बड़ा चकित हुआ और उसने प्रतिनिधि-वर्ग को अपने राज्य में पर्यटन करने के लिये आह्वान किया। जब सू-वू वहाँ से लौटा तो उसके साथ राजा की ओर से चार घोड़े प्रदान करने के लिए दो भारतीय दूत भी गये।

चीन के राजदूत—इसी समय चीन से भी दो राज-दूत फूनान में पधारे थे। उन्होंने उस समय के फूनान का आंखों देखा वर्णन लिखा था किन्तु अभाग्यवश वह अब लुप्त हो चुका है। एक चीनी संग्रह-कर्ता लिखता है कि इन दो राजपुरुषों ने राजा को उसके राज्य के सौन्दर्य पर अभिनन्दित किया; किन्तु वहाँ के पुरुषों के नितान्त नंगेपन पर उन्हें जो हैरानी हुई उसे वे न छिपा सके। केवल स्त्रियां विरल वस्त्र धारण करती थीं। इस चर्चा से प्रभावित होकर राजा ने अपनी प्रजा के सारे पुरुषों को आज्ञा करदी कि वे कौपीन-वस्त्र धारण किया करें।

जान पड़ता है कि सन् २७० ई० के लगभग टॉकिन पर, जो

उस समय चीन का एक प्रान्त था, चढ़ाई करने के लिए फान-सिऊन ने चम्पा के राजा से मैत्री स्थापित की तो भी २६८ और २८५ के दर्मियान उसने चीन को उपहार सहित अनेक दूत भेजे।

वर्तमान समय के खमेरों के हृदय में उनके तीसरी शताब्दी के दूरवर्ती पूर्वजों की— जिन्हें वे आदिम खमेर मानते हैं—शक्तिमत्ता की स्मृति अभी तक सुरक्षित है।

खमेर जाति की जन-संख्या—यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि इस खमेर-जाति की—जो अनेक अस्थायी उपप्लवों के होते हुए भी तीसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अत्यन्त शक्तिशालिनी रही—जन-संख्या कितनी थी और प्राचीन फूनान के जिस क्षेत्र पर वह बसी हुई थी उसका विस्तार कितना था ?

सारे दूरस्थ अथवा निकटवर्ती, अचिरन्तन अथवा स्थायी, अधिकृत और अधिष्ठित प्रदेशों का विचार न कर, मालूम होता है कि खमेर-जाति का निवास-स्थान, उसके प्रथम प्रवेश से ही, आधुनिक कम्बोडिया रहा, यहाँ से वह चारों ओर प्रवाहित हुई – पश्चिम की ओर दक्षिणी श्याम को; दक्षिण में आधुनिक फ्रेंच कोचीन चीन को, जो जन-संख्या और विस्तार की दृष्टि से परिमित होने पर भी मछली और अन्य विविध पदार्थों के रूप में अक्षय साधनों का घर था। उत्तर की ओर वह खास लाओस में, विशाल स्रोतोवाहिनी मेकाँग और उसकी सहायक नदियों के तटों में और मून नाम्नी बृहत्काय नदी के तटस्थ विस्तीर्ण मैदानों में फैली।

वह प्रभविष्णु जाति सब मिला कर वर्तमान कम्बोडिया की दुगुनी भूमि को घेरे हुई थी। वह थोड़ी बहुत *भारती*यता के रंग में रंगी जा चुकी थी। उसकी जन-संख्या लग-भग तीस या चालीस लाख थी।

तीस या चालीस लाख मनुष्य! जिन्हों ने इस जाति के, बाद को निर्माण किये हुए. ईंट और बालुका-पत्थरों के भव्य भवनों की बड़ी भारी संख्या को देखा है उन्हें यह गणना क्षुद्र जैसी प्रतीत होगी। किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि एक समय था जब मिश्र-निवासी ऐसी भारी भारी और ठोस, पच्चीकारी की हुई, शिलाओं को निर्माण-कार्य के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को ले गये थे जो अतुलनीय थीं, जिनके सामने कम्बोडिया के ऐतिहासिक भवनों के बालुका-पत्थर तुच्छ थे; उस समय के मिश्र-देश के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों ने सत्तर या अस्सी लाख से अधिक जन-संख्या की सम्भावना नहीं की है।

फूनान और चम्पा की संस्कृति का सादृश्य — चीनी लेखक बतलाते हैं कि यह प्राचीन फूनान सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक स्थिति में चम्पा के पड़ोसी भारतीय राज्य से—जहाँ सम्भवतः संस्कृति उस समय भी अधिक परिष्कृत थी और जहाँ मुख्य परिवार ब्राह्मणों के ही थे—भिन्न नहीं था। पुस्तकें, लिपि, शिक्षा, कला और व्यवसाय सब एक जैसे थे; दोनों ही देशों में रहन-सहन और जीवन की, भरण-पोषण और आवास-निवास की बड़ी सरलता थी।

कुएँ और बावड़ियों का बाहुल्य था। हाथी घोड़े, गाय भैंस, बकरियाँ, सुअर, मुर्गियाँ आदि पालतू बनाये जा चुके थे। लोगों में वैदिक धर्म का प्रचार था, यद्यपि, सम्भवतः, वह रही सही प्राचीन प्रथाओं और अन्ध-धारणाओं के प्रभाव से असंपृक्त नहीं था।

फूनान की भवन-कला—फूनान के मन्दिर और भवन लकड़ी के बने रहे होंगे; उनके कोई अवशेष इस समय उपलब्ध नहीं हैं। देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी लकड़ी की ही बनी रही होंगी, जिन पर आर्द्र और उष्ण वायु-मण्डल और सहस्रों विनाशक कीट अपना शताब्दियों का कार्य करके विश्रान्त हो चुके हैं। तत्कालीन पत्थरों और उनसे बने हुए प्रागैतिहासिक परशुओं को छोड़ कर उस समय के और कोई स्मारक अवशिष्ट नहीं हैं।

फूनान की शक्ति का ह्रास—मालूम होता है चौथी शताब्दी में फूनान ने अपने दूरवर्ती विजित प्रदेशों को खो डाला था। उसने सहसा अन्धकार अथवा दौर्बल्य के युग में प्रवेश किया। किन्तु भारतवर्ष के साथ उसका सम्बन्ध अनवरत बना रहा। चीनी लेखकों के अनुसार सन् ३५७ में फूनान के राजा 'चू-चेन तान' ने अपना प्रतिनिधि-वर्ग और कुछ पालतू हाथी भेजे थे। सम्राट् ने हाथियों को इस भय से वापिस कर दिया कि कहीं वे उसकी प्रजा को क्षति न पहुँचा दें!

——:o:——

आधुनिक कम्बोडिया का दिग्दर्शन।

भौगोलिक परिस्थिति—कम्बोडिया हिन्द महासागर के उस पार दक्षिणी चीन सागर के उत्तर में स्थित है। प्राचीन समय में जब हिन्दू औपनिवेशिक प्रसार पराकाष्ठा को पहुँच चुका था, कम्बोडिया की सीमाएँ इस प्रकार थीं,—उत्तर में दान-ग्रेक पर्वत और लाओस प्रान्त, पूर्व में चम्पा (आधुनिक अनाम) दक्षिण में कोचीन चीन और श्याम की खाड़ी, पश्चिम में एक वर्तुल जैसी पिचकी हुई रेखा जो श्याम की खाड़ी और दान-ग्रेक को १००½° दशांतर पर मिलाती है और मध्य में १३° अक्षांश के निकट १००° दशांतर को स्पर्श करती हुई चली जाती है। इन सीमाओं से स्पष्ट है कि उन दिनों कम्बोडिया में आधुनिक श्याम के पूर्वी प्रान्त भी सम्मिलित थे।

चेन-ला—चीन के सूइ परिवार (५८६—६१८) के इतिहास में कम्बोडिया का उल्लेख हमेशा 'चेन-ला' नाम से किया गया है। इस नाम के पड़ने का कोई स्पष्ट कारण विदित नहीं होता। श्रीयुत पेमोनिए का कहना है कि सन् ६१६–६१७ में जब ईशान-वर्मा ने चीन को अपना प्रतिनिधि-वर्ग भेजा था तभी से इस भूल का आरम्भ हुआ है। इस सम्बन्ध में यह एक उल्लेखनीय बात है कि दूर देशों से आये हुए दूतों का आशय समझने के लिए कई—कभी कभी पाँच छः—व्याख्याताओं की

आवश्यकता पड़ती थी, लिखनेवालों तक पहुँचते पहुँचते विदेशी सन्देश-हरों के शब्दों को कई मुखों से होकर गुजरना पड़ता था ।

कम्बोडिया नाम की उत्पत्ति—कम्बोडिया नाम की उत्पत्ति भी बड़ी विचित्र है । स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार किसी महर्षि कम्बु ने भारत से वहाँ पदार्पण किया था । जिस प्रकार पौराणिक श्रुति के अनुसार मनु स्वायंभुव को भारत में प्रजापति माना जाता है उसी प्रकार वहाँ भी कम्बु को कम्बु स्वायंभुव प्रजापति माना जाने लगा । उसकी प्रजा कम्बुज और यह नया देश काम्बोज कहलाया ।

आधुनिक कम्बोडिया का दिग्दर्शन-सैगौन का एक दृश्य—प्राचीन कम्बोडिया में आर्य-प्रभुता का विवरण देने से पहले यहाँ पर आधुनिक कम्बोडिया का दिग्दर्शन करा देना उचित जान पड़ता है । मान लें कि आप कम्बोडिया की सैर करने निकले हैं । आपका जहाज सैगौन में पहुँचता है जो फ्रेंच कोचीन चीन में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह है । यहाँ पर आप स्वार्थान्धता और अधोगति का एक नंगा मर्मस्पर्शी दृश्य देखते हैं । सभी जहाज यहाँ पहुँच कर कोयला लेते हैं । और उनमें कोयला भरने वाले होते हैं--पुरुष नहीं, किन्तु "परिश्रान्त, क्षीण, लघु-काय स्त्रियां और उनकी बालिकाएँ—उनकी दुधमुँहीं बालिकाएँ । मार्ग की एक ओर जहाज खड़ा होता है, दूसरी ओर कोयले का प्रांगण स्थित है । हर एक ढोनेवाली दो दो डोल भर लेती है जो

स्कन्ध-यष्टि की दोनों ओर लटके होते हैं और इस प्रकार आग उगलते हुए बारह घण्टों के सारे दिन इस कृष्ण भार को वहन करती जाती है।

ये क्षुद्र-काय अनामी स्त्रियाँ और बालिकाएँ सदा काले कपास का एकमात्र वस्त्र धारण करती हैं जो उषा के प्रभाव को प्रदर्शित करता है। जब यह भयंकर दिनचर्या समाप्त हो जाती है, वे नदी के पुलिन की ओर प्रस्थान करती हैं और सचैल पानी में चल कर चोगे और त्वचा पर से घृणास्पद अङ्गार-धूलि को धो डालती हैं। तट पर एक सूखा चोगा उन्हें शालीन और घर जाने योग्य बना देता है—यदि उनके कोई घर हो तो। पंगु कर देनेवाली इस श्रमजीविता के लिए प्रति दिन जो मूल्य दिया जाता है वह कुछ पैसों से अधिक नहीं होता।"

म्यूनिसिपल रङ्गशाला के निकट वृक्षों की छाया में चत्वर पर एक विशाल विश्रान्ति-भवन है जहाँ श्रान्त पथिक शीतल पेय पदार्थों से अपने चित्त को ठण्डा कर सकता है और सैगौन के नागरिकों के विषय में मनन करने का अवसर प्राप्त कर सकता है। घंटे भर की विश्रान्ति में ही फ्रेंच इन्दोचीन की वस्तुस्थिति की सतह का पता लग जाता है। फ्रेंच प्रवासी यहाँ अपने जीवन को दुःखमय समझते हैं, उपनिवेश के कार्य में वे एक प्रकार से विपक्ष जैसे हैं। प्रत्येक स्त्री या पुरुष फ्राँस को लौटने की आशा में यहाँ जीवन के कुछ दिन ज्यों त्यों करके बिताता है। किसी भी फ्रेंच नगर में जो कुछ भी उपयोग की

सामग्री मिल सकती है वह यहाँ मौजूद है किन्तु सब कटु निडम्बना जैसी प्रतीत होती है।

यहाँ एक विशाल म्यूनिसिपल रङ्गशाला और एक गिरजाघर भी विद्यमान है, फ्रेंच गवर्नर जनरल के रहने के लिए एक महल है जो आधुनिक फ्रेंच वास्तुकला की भव्यता से युक्त है । फ्रेंच लोगों में अन्य उच्च पदाधिकारियों के रहने के लिए भी महल बने हैं । व्यवसाय ने अपने लिए महलों का निर्माण किया है और न्याय-निर्णय के लिए भी एक महल विद्यमान है।

काटिना गली में दुकानें हैं जो पेरिस की महत्ता के अननुरूप नहीं। जौहरी बहुमूल्य रत्नों के आधुनिकतम कल्पना-चातुर्यों को प्रदर्शित किए बैठे हैं, गन्धी 'हूबिगां' और 'कोटी' प्रकार के अपूर्व सुगन्धिद्रव्यों को बेच रहे हैं, पुस्तकविक्रेता हाट में नए से नए उपन्यासों और समालोचना-पत्रों को रखे हुए हैं, शराब की दूकान वह बहार दिखा रही है जिससे किसी पेरिस की गली की भ्रान्ति पूर्ण हो जाती है। एक विशाल विभाग-भण्डार अपनी अनेक खिड़कियों को उन सब वस्तुओं से सजाये हुए है जो घर और जन के लिए आवश्यक समझी जाती हैं।

चारुता और बहुविधता से युक्त इन गलियों से होकर काला वस्त्र पहने तन्वी क्षुद्रकाय अनामी स्त्रियाँ अपसर्पण करती हुई दिखाई देती हैं। वे विनम्र भाव से नये आगन्तुकों के रहन सहन और उनके वेशभूषा पर विस्मय कर रही हैं । उनमें से तीन चार एक किनारे की खिड़की पर खड़ी हैं । यह खिड़की अवगाहन-वस्त्र को—जैसा कि डोविल में पहना जाता है—

प्रदर्शित कर रही है । यहाँ मोम की अत्यन्त पाटल-वर्ण पांच विडम्बना-स्त्री हाव-प्रदर्शनपूर्वक अवस्थित हैं । प्रत्येक एक 'आन्यत्त केलेमान' "Anne-te Kellermann" पहने हुई है जिसे देख कर शायद उक्त विश्रुत तैरैया को भी लज्जावनत होना पड़ता । कटिबन्ध के ऊपर पट्टचीर का एक जोड़ा, कटिबन्ध के नीचे उससे कुछ अधिक नहीं ! तिस पर भी इन नंगी मोम-प्रमदाओं की मुसकान में ऐसी लुभावन भरी हुई है कि मानों उनके नंगेपन को अश्लीलता के आवरण से आरञ्जित कर रही हो ।

इस खिड़की के सामने ये मुरझाई हुई, चिन्ताग्रस्त, तरुणी अनामी स्त्रियाँ कण्ठ से पैरों तक एकमात्र तंग काला वस्त्र—जिसके अस्तीन मणि-बन्ध तक पहुंच रहे हैं—पहने खड़ी खड़ी एक-टक निहार रही हैं । फ्रेंच औपनिवेशिक उन्माद और दूरवर्ती पूर्व की हीनाति-हीन शालीनता का यह कैसा उद्वेगकारी मिलन है ! आज कौन कह सकता है कि ये अनामी उन्हीं चम्पानिवासियों के वंशधर हैं जिन्हों ने उद्दीप्त खमेर-सभ्यता को जड़ें हिला कर विशीर्ण कर देनेवाला आघात पहुँचाया था ?

सैगौन की गलियों में फिरनेवाले इन लोगों के सभी रंग ढंग अधीनस्थ जाति के जैसे ही हैं, स्वतन्त्र मनुष्य की हुलास-भरी भावनाओं और चेष्टाओं का उनमें सर्वथा अभाव है । पुरुष या तो कुली हैं या तुच्छ सेवा-वृत्ति से किसी तरह अपना निर्वाह करते हैं । फ्रेंच प्रोटेक्टोरेट की विषाक्त प्रसर्पिणी छत्रच्छाया में अनामी रुधिर को पनपने का कोई अवकाश नहीं । बलिहारी है तुम्हारी सभ्यता और तुम्हारी संस्कृति की !

तुम्हारी गृध्नुता के कारण आज एक प्राचीन सभ्य जाति पङ्गु बन कर मौत के दिन पूरे कर रही है।

दयामयी प्रकृति की उदारता—मानवी स्वार्थान्धता की इस घृणित कहानी को यहीं पर समाप्त कर, कम्बोडिया की राजधानी फनौम पेन्ह के लिए प्रस्थान करने से पूर्व दयामयी प्रकृति की उदारता का भी यहाँ पर कुछ दिग्दर्शन करते चलें।

सैगौन में आप नारियल के प्रणयित्व से आनन्दलाभ कर सकते हैं। यहाँ वह अत्यन्त स्निग्ध दशा में पाया जाता है। यह वह फल है जो संसार के व्यापार में विविध प्रकार से योग देता है। जब वह पक कर कुप्रा हो जाता है तो उससे तेल और साबुन बनाया जाता है। उससे अनेक स्वादु खाद्य पदार्थ तैय्यार किये जाते हैं। किन्तु यहाँ इस उष्ण प्रदेश के मध्य-शीतकाल में वह एक प्रकार का अमृत और काव्य-रस है।

अवतरण-घाट के विस्तीर्ण पथ पर, दूकानों के सम्मुख, जहाँ हिन्दू लोग रुपये भनाते हैं और वहाँ के निवासी मिट्टी के पात्र और कपास बेचते हैं, स्थान स्थान पर शान्ति से नारियल बेचनेवाली अनामी स्त्रियाँ बैठी हैं। फल हरे हैं और उनका सार-पदार्थ अभी पक कर एक चौथाई इञ्च की मोटाई धारण कर सका है। उसके स्वच्छ सफ़ेद रस के स्पर्श होते ही आपके सतृष्ण ओष्ठ एक अपूर्व तृप्ति का अनुभव करने लगते हैं, उसके कण्ठ से नीचे उतरते ही अङ्ग प्रत्यङ्ग आप्यायित हो जाते हैं।

मेकाँग की उपत्यका में—रोटाँड होटल (Hotel de la Rotonde) के सामने जलमय अग्रभाग के पार्श्व में एक खुला लकड़ी का प्राङ्गण है जो नौकागार से सटा हुआ है। इस नौकागार से कम्बोडिया की राजधानी फ्नौम पेन्ह और अङ्कोर के लिए किश्तियाँ प्रस्थान करती हैं। यहाँ से आगे पथिक सारे सुगन्धिपूर्ण दिन पीले पानी की एक विस्तीर्ण—अति विस्तीर्ण—नदी पर आप्लवन करता है, जबकि शनैः शनैः सयानी मधुमयी प्रकृति परिभ्रान्त पथिक को उष्मा-प्रधान प्रदेश के अलस पुरुष में परिवर्तित कर देती है।

मन्द, विस्तीर्ण, धान के खेतों की चिकनी मिट्टी को चाट कर निरन्तर पङ्किल रहनेवाला, महानद मेकाँग कम्बोडिया के एक बड़े भारी मैदान को उर्वरा बनाता है। उसके तटों की ऊँचाई प्रायः कुछ भी नहीं है। किन्तु कम्बोडिया से बाहर वह दक्षिण चीन में भयावह दुर्गम गिरि-कन्दराओं से अपना मार्ग बनाता है और इससे भी आगे इस दुर्दम नद का उद्गम है—अगम्य तिब्बत में जिसका पिघलता हुआ बर्फ उसकी प्रथम बाढ़ों का पोषण करता है।

कोचीन चीन में वह किश्तियों और जहाजों के लिए एक बड़ा जलमार्ग है—चावल आदि से वही सैगौन का पोषण करता है, जहाँ से हर साल यह धान्य-राशि बाहर को भेजी जाती है।

सूखी मौसिम में पानी बहुत नीचा पड़ जाता है किन्तु ग्रीष्म की धारासार वृष्टि से उसमें बाढ़ आने लगती है और

आस पास के सारे मैदान में सुन्दर उपजाऊ पीली मिट्टी फैल जाती है।

आप की नौका सैगौन से आगे उद्गम की ओर बढ़ती हुई चली जा रही है। आप इधर उधर दृष्टि फेरते हैं। सर्वत्र चपटा, चपटा, बिलकुल चपटा क्षितिज खजूरों से घिरा हुआ दिखाई देता है—कुछ नहीं, केवल खजूर!

सारे दिन और सारी जड़ता लानेवाली साँझ वही नदी! वही दृश्य की मधुमय एकतानता। वहाँ के निवासियों की झोपड़ियाँ बाँस के पिंजरे जैसी हैं जो वर्षा ऋतु में बाढ़ से और सूखी मौसिम में व्याघ्रों से सुरक्षित रखने के लिए पाद-यष्टियों पर खड़ी की जाती हैं। नदी से थोड़ी दूर पर व्याघ्र, चीते, हाथी आदि भयङ्कर वन्य पशु रहते हैं। प्रत्येक झोपड़ी के चारों ओर कदलीवन और नारियल के स्तवक हैं, जिनके प्रकाण्डों के इर्द गिर्द नङ्गे भूरे शिशु उधर से गुजरती हुई किश्तियों के साथ लुका-चोरी खेलते हैं। घरों के बीच बीच में धान के विस्तीर्ण क्षेत्र हैं। यह एक रोचक और विचारणीय बात है कि खमेर-सभ्यता ने धान के पथ का अनुसरण किया—जहाँ वह उगा वहीं इस रहस्यपूर्ण जाति की मानसिक उन्नति ने भी बढ़ती की, और एक अपूर्व दीप्ति के बाद सहसा बुझ गई।

कम्बोडिया की राजधानी फ्नौम पेन्ह—सुबह होते होते हमारी किश्ती फ्नौम पेन्ह में पहुँचती है, जो मेकाँग के दाहिने किनारे पर तन्द्राविष्ट जैसा प्रतीत होता है। प्रथम

झलक में फ्नौम पेन्ह एक छोटा सा सैगौन ही जैसा लगता है। एक लम्बे अवतरण-घाट के सामने सुन्दर फ्रेंच भवन, छायायुक्त कुञ्ज और सार्वजनीन उद्यान हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है फ्नौम पेन्ह कम्बोडिया की राजधानी है। राजा एक जर्जरित शानदार महल में निवास करता है। धन-सम्पदा की दृष्टि से यह महल अरण्यजनोचित है; उदाहरण के लिए उसमें बुद्ध की एक जीवन-परिमाण प्रतिमा है जो ठोस सोने की बनी हुई है और बृहदाकार हीरों से अलंकृत है। उसमें एक बड़ा विस्तीर्ण भवन भी है जिसका फर्श विमल चाँदी के चित्रित पटलों से सजा हुआ है। एक और भवन में अनतिक्रमणीय पुण्य-खड्ग लटक रहा है जिसकी कल्पना-शुद्धि और परिष्कार-सौन्दर्य देखने लायक हैं; उसकी काले फौलाद की धार सुवर्ण से खचित है; उसकी बेंट भी सोने की बनी है और अंशतः विमल पारदर्शी पदार्थ से आछन्न है, यह तलवार राजत्व का चिह्न है।

महल में नृत्य-शाला भी है जहाँ नर्तकियाँ देशी संगीत के साथ राजा के सम्मुख अपना नाच दिखाती हैं। राजा के गज-यूथ भी हैं जिन पर वह विशेष अवसरों पर प्राचीन ठाट से आरूढ होता है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी वह फ्रेंच प्रोटेक्टोरेट का एक खिलौनामात्र है। राज्य का असली हर्ता कर्ता फ्रेंच गवर्नर है।

फ्नौम पेन्ह में वृक्षों और शाद्वलाओं से युक्त एक रमणीक पार्क है, जहाँ फ्रेंच शिशु क्रीडा करते हैं। इसके भीतर

एक पर्वत है जिसके शिखर पर एक प्राचीन मन्दिर है। इस मन्दिर तक पहुँचने के लिए वास्तविक खमेर शैली का एक सोपान बना हुआ है; कृत्रिम नाग सोपानपरम्परा का काम देता है और उसकी दोनों ओर सिंह रक्षक का काम कर रहे हैं।

महल के पास ही एक अजायब-घर है। यहाँ विस्मयावह ताम्र-पत्र और मूर्त पाषाण, रत्न-कलाप और लड़ाई के शस्त्र संगृहीत हैं, जो खमेर-कला के दिव्य युग के अवशेषों से उद्धृत किये गये हैं। प्राङ्गण के चारों ओर खुले भवन हैं जिनमें कम्बोडिया के विद्यार्थियों को चिरन्तन देशी कलाओं के अनुशीलन की शिक्षा मिलती है। यह अजायब-घर फ्रेंच पुराविद् जार्ज ग्रौस्लिए का जीवन-कार्य है।

टानले-सैप सरोवर—फ्नौम पेन्ह के निकट मेकाँग से टानले-सैप नाम्नी नदी मिलती है जो आगे एक सपाट आविल स्रोतोवाहिनी से एक निर्मल नील जलराशि-युक्त झील में परिवर्तित हो जाती है। तट पर स्थान स्थान पर सारस-पंक्तियाँ दृष्टि-गोचर होती हैं। बृहत्काय भैंसें खेतों के किनारों पर अपने सन्तप्त शरीर को ठण्डा करती हुई दिखाई देती हैं। केवल उनके थोंथने और फटे हुए सींग पानी से बाहर निकले होते हैं। आस पास सर्वत्र खजूर के पेड़ खड़े हैं।

सहसा 'टानले-सैप' सरोवर दृष्टि-पथ पर अवतरता है। सरोवर क्या, सागर कहिए। एक सौ मील से भी अधिक लम्बा और लगभग २६ मील चौड़ा यह विशाल जल-प्रसार

अक्षय आकर्षण का निरन्तर परिवर्तनशील दृश्य है। साधारणतया झीलों में जो रमणीयता हो सकती है वह उसमें विद्यमान है। तल का आलोडन करनेवाली क्षुद्र तरङ्गें इस स्निग्धता से तटाघात करती हैं कि किसी तरह का फेन भूमि को धवलित नहीं कर पाता। अपनी पिपासाकुल शाखाओं को पानी में डुबोने के लिए वृक्ष उलझ पुलझ कर उसकी ओर दौड़ते हुए प्रतीत होते हैं। ज़मीन की ओर से फूल और पत्ते गिर गिर कर उसमें तैरने लगते हैं अन्य झीलों की भाँति टानले-सैप प्रशान्त और उदासी लानेवाली नहीं। वह इतनी स्वच्छ है, उसमें इतनी विशालता है, उसकी साँय-साँय ध्वनि में इतनी महत्ता है कि चित्त में औदासीन्य आ ही नहीं सकता। और झीलों की अपेक्षा वह अधिक प्रभावशालिनी और जंगली है। तूफ़ानों के आने का भय उसमें सदा बना रहता है।

सूर्य का आतप अति दारुण और जड़ता लानेवाला है। किश्ती में बैठ कर इस झील को पार करना मानो लाल पिघले हुए सीसे की नदी से होकर निकलना है।

रात्रि टानले सैप में इतनी ही भयंकर है जितना दिन। घटती हुई गर्मी अभी इतनी प्रमथन करनेवाली होती है कि नींद नहीं आ सकती और निरन्तर किसी भावी अनिष्ट की आशङ्का बनी रहती है। उष्मा वक्षःस्थल को संक्षुब्ध कर सर्वत्र फैल जाती है और अङ्ग प्रत्यङ्ग को क्षीण कर देती है। नासा-रन्ध्र गन्ध से भर जाते हैं, उन मुकुलित पुष्पों की गन्ध से नहीं जो ग्रीष्म की रात्रियों को सुरभित बनाते हैं; विश्रान्त प्रकृति

की सुगन्धि से नहीं, जब सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य होता है। यह उस गन्ध जैसी है जिसे बीभत्स संहार के बाद वायु रण-क्षेत्र से उड़ा लाता है, वह गन्ध जिसे सिर दुखने लगता है, सड़ते हुए मांस और जमे हुए खून के कुण्डों से जिसकी उत्पत्ति हुई है। समय समय पर ऐसी दुर्गन्ध चलती है मानो पास ही कोई लाश तैर रही हो। दूर किनारे पर कुत्ता भौंकता हुआ सुनाई देता है; उसका दीर्घ एकरस क्रन्दन नीरवता में छेदता हुआ जैसा प्रतिध्वनित होता है। नस नस में भय का सञ्चार होने लगता है, मानो अमावास्या की काल-रात्रि में मालतीमाधव के श्मशान का विकट दृश्य आँखों के सामने उपस्थित हो। आखिर नितान्त परिश्रान्त होकर आप सो जाते हैं और सुबह को जब नींद से उठते हैं तो आपको अपनी भूल का पता लगता है। सूर्य के आतप से आपके दिमाग़ में ज्वर का दाह हो चुका था और रात को आप ढेर की ढेर सड़ी हुई मछलियों के मध्य में तैर रहे थे! क्योंकि यही समय है जब मछुवे उन्हें हजारों की संख्या में पकड़ते हैं और उनकी अंतड़ियों को टानले-सैप के पानी में फेंक देते हैं। आप अपनी भूल पर हंस देते हैं और ऐसे समय पर जब कि सरोवर अपनी पूर्ण भव्यता से युक्त है. आप बाहर की ओर दृष्टि-पात करते हैं।

एक ओर अपार जल-प्रसार है, दूसरी ओर सवानाओं का किनारा दृष्टि-पथ पर अवतरता है, जहाँ 'मैंग्रोव' वृक्ष अपनी अनेकों ऊँची जड़ों से ऐसे लगते हैं मानो तन्तुवाय की टाँगों पर लता-गुल्म अवस्थित हों और जहाँ काले मलिन

प्रकाण्डों से युक्त छोटे छोटे वृक्ष विरल आकुञ्चित और संपीडित शाखाओं को प्रदर्शित करते हैं। वार्षिक बाढ़ के पानी के पीछे हटते समय पेड़ों की टहनियों से जो घास के गुच्छे उलझ गये थे वे सूख कर पीले पड़ गये हैं और दूर से श्यामायमान हरे पत्तों के निकट फूल जैसे प्रतीत होते हैं। रेत के विस्तीर्ण खण्डों पर गाँव बसे हुए हैं। झोपड़ियों के सामने स्त्रियां लवणादि से मछलियों को उपस्कृत करती हैं, जिन्हें पुरुष लम्बी सँकरी नौकाओं के तल पर रख कर ले आते हैं। ये मछुए कम्बोडिया के रहनेवाले हैं; किन्तु उनकी संख्या को बढ़ाने के लिए अनामी और चीनी मत्स्यजीवी भी टानले-सैप पर आकर बस गये हैं।

यहाँ चीनी मत्स्यजीवियों के बड़े बड़े जहाज हैं जिनमें उनके सारे परिवार के परिवार वास करते हैं। ये जहाज ही उनके घर और उनकी सम्पत्ति हैं। यहीं वे पैदा होते हैं और यहीं अपनी परिमित जीवन-लीला को समाप्त करते हैं।

भाँति भाँति के पक्षी भी इस विशाल झील की अपरिमेय मछलियों और जडिमायुक्त वायु-मण्डल के कीट पतङ्गों पर अपना निर्वाह करते हैं। उनके क्रन्दन से अन्तरिक्ष गूंज उठता है, तटस्थ वेतस-गुल्म सजग हो जाते हैं।

दूरवर्ती तटों पर, किनारों के निभृत कोनों में, नाके अपनी कर्कश त्वचा को प्रदर्शित करते हैं, जम्हाई लेते और फौलादी आस्फालन के साथ अपनी दारुण दंष्ट्राओं को बंद करते हैं—निकट आनेवाले प्राणियों के लिए मानों वे जीवधारी पाश-

बन्ध हैं। उद्बिलाव चुपके चुपके फेन के नीचे चमकती हुई तरुण 'ट्राउट' मछलियों की ताक में घूमते फिरते हैं। अनेक प्राणी हैं जो डंक मारते और काटने हैं, अनेक पौधे, जो वायु मण्डल को सुरभित और विषैला बनाते हैं। मृत्यु, जीवन की घात में, सुन्दरता को लिये अपने विषाक्त शरीर को मणिमय आवरण से ढका कर अपनी मोहनी माया फैलाती है।

सियाम-रीप प्रान्त—टानले-सैप के उत्तरी परिसर में सियाम-रीप प्रान्त प्राचीन खमेर साम्राज्य का हृदय है। राजा महाराजों ने जी खोल कर यहाँ स्मारकों पर अपनी धन-सम्पदा खर्च की और इस प्रदेश को संसार के कला-केन्द्रों की गणना में रक्खा। इससे होकर एक नदी बहती है जिसका उद्गम उत्तर की ओर महेन्द्र पर्वत (फ्नौम कुलेन) में है, जहाँ से मन्दिरों के निर्माण के लिए वालुका-पत्थर लाये गये थे। क्षुद्र सरिताएँ अभिनव स्रोतों से परिपुष्ट होकर पर्वत-पार्श्वों से अवतरती हैं और सब मिल कर स्तुङ्ग सियाम-रीप के अस्तित्व में योग देती हैं। यह नदी अपना आधे से अधिक मार्ग आतपाक्रान्त अकिञ्चन बालुकामय भूमि से पार करती है, जहाँ विरल वृक्षों से ढकी हुई कंकरीली पहाड़ियाँ विद्यमान हैं। इसके अनन्तर वह एक उर्वरा भूमि में, जिसे राजाओं ने अपने निवास के लिए चुना था, प्रवेश करती है; यशोधरपुर (अगकोर थाम) के परिसर से होती हुई सियाम-रीप नगर से गुजरती है, जो प्राचीन समय में वाणिज्य के द्वारा समृद्ध हो चुका था; और अन्त में वर्षा ऋतु में आप्लावित होने वाले सवानाओं से लड़-खड़ाती हुई टानले सैप की जल-राशि से मिलकर तदाकार हो जाती है।

इस मोहनी परिस्थिति में भारत से आर्य पधारे और उन्होंने उसे अपनाया। दक्षिण में मेकाँग नदी और टानले सैप, जो आयात-निर्यात में सुविधा प्रदान करते थे; पास ही वालुका-पाषाण के पर्वत, जिनसे वे निर्माताओं के महान् स्वप्नों को कार्य-रूप में परिणत कर सके; मछलियां और जंगली पशुओं की अपरिमेय प्रचुरता; धान को उत्पन्न करने वाली उर्वरा भूमि, और अन्ततः उसका स्वास्थ्यप्रद जलवायु— इन सभी आकर्षणों ने उन्हें इस परिस्थिति में रहने के लिए मुग्ध किया था।

फ्रेंच संरक्षण—इस समय कम्बोडिया की जन-संख्या १४,६०,००० है जिसमें से एक चौथाई कम्बोडियन और बाक़ी अनामी और मलाया-निवासी हैं। कम्बोडिया अब प्राक्तन शक्तिशाली साम्राज्य का एक अंशमात्र है जो शनैः शनैः अधः-पतन की ओर जा रहा है। उसका अभी भी अपना राजा है किन्तु वस्तुतः वह अब फ्रेंच संरक्षण में है। सन् १८६७ में तत्कालीन राजा नोरोडोन ने श्याम और अनाम के विरुद्ध फ्रेंच संरक्षण की प्रार्थना की थी और साथ ही यह शर्त भी रक्खी थी कि फ्रांस कम्बोडिया को अपने साम्राज्य में न सम्मिलित करे। सन् १८८४ में सन्धि फिर दुहराई गई थी जिसमें फ्राँस को यह अधिकार मिला कि वह ऐसे आर्थिक, राजनैतिक और वाणिज्य-विषयक सुधारों का सूत्रपात कर सकता है जिनको वह आवश्यक समझे।

कम्बोडिया के प्रारम्भिक राजा।

श्रुतवर्मा।

कौण्डिन्य द्वितीय का आगमन—चीनी लेखकों के अनुसार सन् ४०० ई० के लगभग एक और—भारतीय ब्राह्मण—कौण्डिन्य को दिव्य वाणी सुनाई दी, जिसने उसे फूनान में जाकर राज्य करने की आज्ञा दी। वह आनन्द से उछलता हुआ पान-पान (फूनान के किसी एक निकटवर्ती बन्दरगाह अथवा प्रदेश) में पहुँचा। उसके वहाँ पहुँचने का समाचार सुनते ही फूनान की सारी प्रजा हुलास से उसके सम्मुख उपस्थित हुई और उसने उसे अपना राजा बनाने की घोषणा की।

इस दिव्यावदान को यहीं पर छोड़ कर हम देखते हैं कि यह प्रवासी कोई अज्ञात पुरुष नहीं था। उसके आने की घोषणा हुई थी; उसके साथ अनुयायि-वर्ग था; उसके अभ्युदय की आयोजना में अनेकों सहचरों ने योग दिया था। हो सकता है कि प्रजा को प्रभावान्वित करने के लिए उसने प्रथम शताब्दी के कौण्डिन्य के साथ अपनी सगोत्रीयता प्रदर्शित की हो, जिसकी अनुश्रुति की स्मृति लोगों के हृदय में अभी सजीव थी, यद्यपि उसका वंश च्युत हो चुका था।

भारतीयता की छाप—चीनी ग्रन्थ बतलाते हैं कि यह राजा एक बड़े अनुयायि-वर्ग के साथ फूनान में पधारा था, "उसने भारतीय पद्धति के अनुसार सारे नियमों को बदल डाला ; दूसरे शब्दों में, उसने राज्य की सारी संस्थाओं को पूर्णतया भारतीयता के रंग में रंग डाला। आगामी ८०० वर्षों और इससे भी अधिक समय तक कम्बोडिया के अनवरत विकास में उन सिद्धान्तों को, जिनकी स्थापना ४०० ई० सन् के लगभग की गई थी, आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा।"

चौथी शताब्दी के अन्त और पांचवीं शताब्दी के आरम्भ में मातृभूमि और उसके दूरवर्ती उपनिवेशों में कितनी घनिष्ठता थी इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि उस समय दक्षिण भारत और चम्पा दोनों ही में साथ साथ शिला-लेख की एक जैसी विकसन-शील लिपि का प्रादुर्भाव हुआ था। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष और चम्पा, जिसका कम्बोडिया के पड़ोसी राज्य से प्रगाढ़ सम्पर्क था,—दोनों ही में राजा लोग अपने नाम के साथ 'वर्मा' की सामान्य उपाधि धारण करते थे।

कौण्डिन्य श्रुतवर्मा—इन सब बातों का 'बाकसेइ चामक्रोन' के सन् ९४७ के शिला-लेख से, जो श्रुतवर्मा को कम्बोडिया के राजाओं में प्रथम स्थान—"श्रुतवर्ममूल"—देता है, सामञ्जस्य करने पर प्रतीत होता कि कौण्डिन्य श्रुतवर्मा से भिन्न कोई व्यक्ति नहीं था। १०२८ का एक और खमेर शिलालेख उन परिवारों का उल्लेख करता है जिन्हों

ने श्रुतवर्मा से लेकर तत्कालीन महाराज तक राजवंश के कीर्तिविषयक इतिहास की रचना की। इस नये राज्य पर भारतीयता की छाप लगानेवाले ब्राह्मण ने जो 'श्रुतवर्मा' यह राजनाम ग्रहण किया वह सर्वथा सार्थक और अनुरूप है और पर्याय से इस कथन की पुष्टि करता है कि कौण्डिन्य और श्रुतवर्मा कोई दो भिन्न व्यक्ति नहीं थे। 'श्रुत' का अर्थ वेद और 'वर्मन्' का अर्थ कवच है—वैदिक ज्ञान ही जिसका कवच है, अपनी कृतविद्यता और ब्रह्मण्यता के बल पर जो राज्य की स्थापना करने चला है! राज्य की धुरा सम्हालने वाले एक वेदपारीण ब्राह्मण के लिए इससे अधिक उपयुक्त नाम और क्या हो सकता था?

कम्बोडिया में सूर्यवंश और चन्द्रवंश—इस बात को सभी जानते हैं कि भारतीय वीर-काव्य की अति प्राचीन प्रागैतिहासिक गाथाओं में सूर्यवंश और चन्द्रवंश दो अप्रतिम प्रतापशाली राजघरानों का वर्णन आया है जिनसे अन्ततः अनेक राजवंशों ने अपना आविर्भाव माना है। सूर्यवंश के सब से अधिक विश्रुत प्रतिनिधि विष्णु के अवतार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और चन्द्रवंश को समुज्ज्वल करनेवाले योगिराज भगवान् कृष्ण माने जाते हैं।

अतः श्रुतवर्मा और उसके निकटवर्ती उत्तराधिकारियों से अपनी उत्पत्ति बताने में कम्बोडिया के राजन्यवर्ग को इन दोनों अलौकिक वंशों को अपनाने की चाहना हुई होगी। अगली आठ शताब्दियों में यहाँ के राजाओं में से कोई अपनी

उत्पत्ति सूर्यवंश और कोई चन्द्रवंश से बतलाता होगा। काल-क्रम से यह कहना अस्वाभाविक न समझा गया होगा कि अमुक राजकुमारों ने दिव्य सूर्य-वंश और चन्द्र-वंश को रुधिर सम्बन्ध से एक सूत्र में संनिहित कर दिया।

महर्षि कम्बु और अप्सरा मेरा—पीछे दिखलाया जा चुका है कि कम्बोडिया का चन्द्रवंश नाग-कन्या सोमा से प्रादुर्भूत हुआ। इससे भी अधिक काल्पनिक वह दम्पती है जिससे यहाँ के सूर्यवंश की सृष्टि हुई। महर्षि कम्बु स्वायंभुव और अप्सरा मेरा, जिसे उसने शिव के प्रसाद से प्राप्त किया था, इस दूरवर्ती उपनिवेश में इस विश्रुत वंश का प्रसार करते हैं। बाकसेइ-चामक्रोन शिलालेख के ग्यारहवें श्लोक में लिखा है—

"कम्बु स्वायंभुव की प्रतिष्ठा करो जो उत्कृष्ट महिमा से युक्त है और जिसका विश्रुत वंश सूर्यवंश और चन्द्रवंश में सम्बन्ध पैदा करके सम्पूर्ण शास्त्रों के अन्धकार को दूर करता है।"

"स्वायंभुवं नमत कम्बुमुदीर्ण्णकीर्त्ति

यस्यार्क्कसोमकुलसंगतिमाप्नुवन्ती।

सत्सन्ततिः सकलशास्त्रतमोपहन्त्री

तेजस्विनी मृदुकरा कलयाभिपूर्ण्णा॥"

बारहवें श्लोक में मेरा की स्तुति की गई है।

"मेरामुदारयशसं सुरसुन्दरीगाम्

ईडे त्रिलोकगुरुणापि हरेण नीता।

या दक्षसृष्ट्यतिशयैषणया महर्षे-

रक्षित्रथादादरवता महिषीत्वमुच्चैः॥"

तेहरवें श्लोक में लिखा है—"जो कम्बु की भूमि का भार धारण करते हैं, श्रुतवर्मा जिनका मूल-पुरुष है और जिन्हों ने अपने देश को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कर दिया है, वे विष्णु के अवतारों की भांति शोभा पाते हैं।"

"श्रीकम्बुभूभरधृतः श्रुतवर्म्ममूला

मौलादपास्तवलिबन्धकृताभिमानाः।

सन्नन्दकाः स्फुटदर्शनवीर्य्या

मूर्ताश्चकासति हरेरिव बाहुदण्डाः॥"

पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त कर देने में सम्भवतः फूनाम की राजधुरा को फेंक देने का अभिप्राय है। अगले दो श्लोकों में श्रुतवर्मा के वंशधरों की प्रशंसा की गई है सोहलवें श्लोक में हम देखते हैं कि इस प्रथम राजवंश की उत्तराधिकारिणी एक राज-परम्परा बनती है जिसका प्रधान पुरुष रुद्रवर्मा है और जिसकी उत्पत्ति कौण्डिन्य और सोमा से बतलाई गई है—"श्रीकौण्डिन्यसोमदुहितृप्रभवाः।"

श्रेष्ठवर्मा ।

श्रेष्ठवर्मा—श्रेष्ठवर्मा श्रुतवर्मा का पुत्र और उत्तराधिकारी था । सन् ११८६ ई० के 'ता-प्रोम' शिला-लेख के छठे श्लोक में लिखा है—"श्री श्रेष्ठवर्मा अपने समुज्ज्वल यश के कारण श्रेष्ठ, एक प्रशस्त राज-वंश का विधायक, विद्वानों में अग्रणी और श्रुतवर्मा का आत्मज था । वह एक राजा था, मनु के अप्रधृष्य राज-दण्ड को धारण करनेवाले महीपालों को जिसका सम्मान करना चाहिए ।"

अगले श्लोक में उसके विभुत्व और प्रजा-रञ्जन का दिग्दर्शन कराया गया है—"जयादित्यपुर रूपी उदयगिरि पर उदित होकर (जन्म लेकर), श्री-कम्बुवंश रूपी आकाश के सूर्य, तेज के घर, श्रेष्ठपुर के अधिराज ने प्राणि-वर्ग के कमल-जैसे हृदयों को उल्लसित किया ।"

इस गतानुगतिक वाग्जाल से प्रादुर्भूत संक्षिप्त किन्तु निश्चयात्मक सामग्री से हम यहां पर कुछ रोचक अनुमान निकाल सकते हैं—

जिस राजा की महिमा का यहां उल्लेख है वह सूर्यवंशी था और अतएव स्वभावतया राज्य के प्रवर्त्तक उसके पिता ने भी इसी वंश में जन्म ग्रहण किया था ।

जयादित्यपुर और श्रेष्ठपुर—पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल से- इससे पूर्ववर्ती युग के विषय में हम सर्वथा अन्धकार में हैं—संस्कृत के पुर-या-पुरी-युक्त नाम, जो भारतीय जगत् में स्थानों के लिए सर्वत्र प्रयुक्त होते आये है, कम्बोडिया में दृष्टिगोचर होने लगते हैं। जयादित्यपुर एक ऐसा ही नाम है, जो सम्भवतः राज्य के किसी पूर्वी प्रदेश में था, जहाँ श्रुतवर्मा का पुत्र उत्पन्न हुआ था और जो फिर और किसी प्रसंग में देखने में नहीं आता। श्रेष्ठपुर इसी प्रकार का एक और नाम है। इस नगर को उक्त राजकुमार ने स्थापित किया था और स्थापना के बाद कई शताब्दियों तक 'कम्बोडिया के नगर' से उसका उल्लेख होता रहा। श्रेष्ठपुर उस समय के उत्तरी चेन-ला की राजधानी थी। यह राजधानी लाओस में बासाक के निकट मेकाँग नदी के तट पर स्थित थी। यह प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से बहुत अनुकूल नहीं था। काल-क्रम से बल-संचय करने पर राजा लोग दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़े और अनेक संघर्षों और पराक्रमों के बाद टानले-सैप के उत्तर-पूर्व में अंगकोर की परिस्थिति में पहुँचे।

कम्बोडिया के नगरों और दुर्गों की स्थापना करने में नर-बलियाँ दी जाती थीं; फाटकों की नींव के नीचे मनुष्य जीते-जी गाड़ दिये जाते थे, जो भविष्य में इन भयावह दुर्गों के अधिष्ठातृ-देवताओं का काम देते थे?

राज्याधिकार की परम्परा—'ता-प्रोम' शिला-लेख से प्रतीत होता है कि राज्याधिकार नियमित रूप से

पिता से पुत्र को मिलता था। किन्तु यह बात नहीं है। फ़ूनान के सम्बन्ध में चीनी इतिहास-लेखक पहले दिखला चुके हैं कि उसकी चार शताब्दियां लहूलहान प्रतिस्पर्धाओं, हत्याओं और अपहरणों में ही साधारणतया व्यतीत हुईं। और आज यह कहा जा सकता है कि कम्बोडिया में उसकी अठारह शताब्दियां के अस्तित्व में बलपूर्वक सिंहासनाधिरूढ होने की परम्परा ही अधिक माननीय रही है।

उस देश में, जहाँ राज्याधिकार की परम्परा अनवस्थित जैसी रही है, मालूम होता है उत्तराधिकार के अनेक प्रकार थे जो सब नियमानुकूल माने जाते थे। सिंहासनाधिरूढ राजा अपने संभावित उत्तराधिकारी को अपना युवराज बना लेता था; अथवा उसकी विवाहिता स्त्री या बड़ी रानी का ज्येष्ठ पुत्र इस अधिकार का भागी होता था। कभी कभी मन्त्रिवर्ग और प्रतिष्ठित राजकर्मचारी मृत राजा के किसी लड़के या भाई को यह पद प्रदान करते थे। किन्तु अधिकांश में ख़ूनी अभिनय ही प्रत्येक राज्य-परिवर्तन की घोषणा करते थे। ऐसा राजा, नियम से अथवा बिना नियम के इस उच्च पद को प्राप्त करके, अपनी शक्ति को निष्कंटक बनाने के लिए अपने उन बन्धुओं को, जो मृत्यु-मुख में नहीं पहुँचाये जाते थे, अंगहीन कर देता था, या उन्हें कारावास में भेज देता था अथवा उनका देश-निकाला कर देता था और उनके निर्वाह के लिए अति क्षुद्र वृत्ति नियत कर देता था। इस प्रकार सिंहासन पर बैठ कर राजा लोग अनेकों विद्रोहों का दमन करते थे, जब तक कि

कोई अधिक योग्य अथवा अधिक भाग्यशाली राज्यापहारी उनके प्राणों या मुकुट को लेकर स्वयं उनके आसन पर अधिकार नहीं कर पाता था।

इन सभी राज्यापहरणों में वंशपरम्परागत अधिकारों की दुहाई दी जाती थी। वंशपरम्परा का जो अभिप्राय है वह भी ध्यान देने की चीज़ है।

मातृपक्ष की प्रधानता—आधुनिक खमेर लोगों में आत्मीयता के प्रबल बन्धन, उनकी प्रथाओं और उनके विधान के अनुसार, सातवें पूर्व पुरुष तक माने जाते हैं। प्राचीन कम्बोडिया में मातृ-पक्ष की परम्परा से ही उत्तराधिकार अधिक प्रबल समझा जाता था और उसी की वहाँ प्रधानता रही। इस स्वभावतः विस्तृत उत्तराधिकार के क्षेत्र को बहु-विवाह की प्रथा ने और भी विस्तृत कर दिया। विवशता के कारण कोई क्रम ऐसा निश्चित नहीं किया जा सका था जिससे यह गुत्थी सुलझाई जा सकती। ऐसी दशा में अभिषेक के अनेक अवसरों पर सिंहासन सबसे अधिक योग्य राज्याभियोगी का शिकार बना होगा। राज-तन्त्र की बाग-डोर जहाँ एक बार हाथ में आई कि चाटुकार वंशावली-लेखकों और कवियों ने झट से एक नई कल्पित परम्परा गढ़ देने और राज्यापहारी के निर्विवाद-सिद्ध अधिकारों को स्थापित करने और उन्हें लब्धप्रतिष्ठ बनाने में कोई संकोच न किया होगा। सम्भवतः कभी कभी इस कल्पित सम्बन्ध को वे पाँच छः शताब्दी पीछे ले चले होंगे।

अस्तु। श्रुतवर्मा के स्थापित किये हुए एकमात्र राज-वंश और दो राजपरिवारों के समकालीन होने की उलझन को ठीक करने के लिए—उसमें स्पष्टता लाने के लिए—उक्त अनुमान पर्याप्त नहीं। यह समस्या वैसी ही तिमिराच्छन्न है।

राजाओं के सार्वजनीन अथवा व्यक्तिविषयक जीवन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है। चीनी लेखकों की विज्ञप्ति इस विषय में अति अनिश्चयात्मक है; स्थानीय शिलालेख, जो वहाँ के स्मारकों की भाँति प्रधानतया धार्मिक हैं, स्पष्ट शब्दों में प्रायः कोई ऐसी बात नहीं देते जो कम्बोडिया में धर्म के क्षेत्र से बाहर घटित हुई हो।

राज्याभिषेक की विधि—जान पड़ता है राजधानी के मध्य में एक अट्टालिका होती थी जिस पर राजाओं का अभिषेक किया जाता था। यह अट्टालिका मेरु-पर्वत की प्रतिरूपिणी मानी जाती थी, जो पौराणिक धारणा के अनुसार संसार का केन्द्र है और जिसके शिखर पर देवता वास करते हैं।

राज्याभिषेक की परमावश्यक विधि का अनुष्ठान किसी विश्रुत ब्राह्मण से किया जाता था, जो अक्सर राज-गुरु होता था और जिसे बाद को नया राजा महती प्रतिष्ठा का पात्र बनाता था।

परम गुरु—अभिषिक्त हो चुकने पर राजा स्वयं परम गुरु माना जाने लगता था। वह संसार का उपदेष्टा और धरित्री का स्वामी बन बैठता था। भले लोगों की रक्षा करना

और दुष्टों को दण्ड देना उसका कर्तव्य था। ब्राह्मणों और तपस्वियों पर उसकी विशेष छत्रच्छाया होती थी। राज-कुमार, मंत्रिवर्ग, राज-सदस्य, सेनाध्यक्ष और प्रतिष्ठित पुरुष सदा उसके अनुग्रह के भाजन बने रहते थे। उसकी स्वच्छन्दचारिता में किसी को हस्ताक्षेप करने का साहस नहीं हो सकता था। सम्भवतः उसके दिव्य अधिकारों और दैवी गुणों के विषय में सन्देह करने की किसी को स्वतन्त्रता ही नहीं थी।

सातवीं और आठवीं शताब्दी में कम्बोडिया में एक नई प्रथा दृष्टि-गोचर होने लगती है, जो चम्पा के पड़ोसी राज्य में सदा से ही विद्यमान थी। राजा परम्परागत हो अथवा अपहारी, मृत्यु के बाद उसका भस्मावशेष सुवर्ण-पात्र में बंद करके मन्दिर में रख दिया जाता था और उसी क्षण यह प्रसिद्ध कर दिया जाता था कि उसकी आत्मा अमुक देवता के पास, अमुक लोक या अमुक दिव्यधाम को पहुँच गई है।

—:o:—

कौण्डिन्य जयवर्मा ।

जयवर्मा—कम्बोडिया के जितने भी शिला-लेख अब तक पढ़े गये हैं उनमें श्रेष्ठवर्मा के पर-वर्ती इस जयवर्मा का कहीं उल्लेख नहीं है । अतएव फ्रेंच पुराविद् श्रीमान् आबेल बेर्गन्य ने अपनी फ़िहरिस्त में इस नाम को सम्मिलित नहीं किया है ।

जान पड़ता है श्रेष्ठवर्मा की मृत्यु के बाद जयवर्मा ने उसके राज्य का अपहरण किया । चीनी लेखक कौण्डिन्य संज्ञा से उसका उल्लेख करते हैं—सम्भवतः उस समय राज्य-प्राप्ति के लिए उसे इस प्रतिष्ठित नाम की ज़रूरत थी; उसका व्यक्तिगत नाम जयवर्मा था । यहाँ पर इतना और कह देना अप्रासंगिक न होगा कि उसने अपनी महिमा प्रदर्शित करने के लिए अपने आपको चन्द्रवंशी बतलाया; कम से कम उसके पुत्र और उत्तराधिकारी के विषय में हम इस बात को निश्चित रूप से जानते हैं ।

चीन को राजदूत—सन् ४८४ और ५१४ के भीतर जयवर्मा ने उपहारों और विनीत एवं आदरपूर्ण अभ्यर्थना के साथ चीन को अनेक दूत भेजे । सन् ४८४ का राजदूत नागसेन नामी एक भारतीय बौद्ध भिक्षु था, जिसने चीन में जाकर वहाँ

के सम्राट् को बतलाया कि फूनान में एक बहुत बड़ी विस्मयावह अलौकिक वस्तु मोटन पर्वत है जिस पर महेश्वर शिव अनवरत अवतरण करते हैं और जहाँ पेड़ पौधे कभी मुरझाते नहीं। लोग शिव की पूजा करते हैं।

इस उल्लेख से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि पांचवीं शताब्दी में वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म दोनों ही कम्बोडिया में प्रवेश कर चुके थे। महेश्वर की उपासना का प्रसार शैव सम्प्रदाय के बढ़ते हुए प्रभाव को सूचित करता है। बौद्ध भिक्षु नागसेन फूनान में बौद्ध धर्म के अस्तित्व का प्रदर्शक है। चीन सम्राट् को जो उपहार दिये गये थे उनमें दो स्तूप भी थे, जिस से मालूम होता है कि बौद्ध धर्म उस समय फूनान में समृद्ध दशा में था।

चीन के राज-दरबार को भगवान् बुद्ध की विद्रुम-प्रतिमा भेंट करने के लिए सन् ५०३ ई० में जयवर्मा ने एक और दूत भेजा। एक राज-शासन में लिखा है,—"फूनान का राजा कौण्डिन्य जयवर्मा समुद्र की सीमाओं के निकट रहता है। कई पीढ़ियों से उसका परिवार दक्षिणी प्रदेश में शासन करता आया है। उनके हृदय की सरलता उनके प्रभु-भक्ति के अनेक उपहारों से प्रदर्शित होती है। अतएव यह आवश्यक जान पड़ता है कि उन्हें कोई समुज्ज्वल उपाधि प्रदान की जाय। अतः यह उपाधि 'दक्षिण का सेनाध्यक्ष, फूनान का राजा' होगी।

चीन को अन्तिम प्रतिनिधि-वर्ग सन् ५१४ ई० में भेजा गया था। इसी वर्ष जयवर्मा की मृत्यु हुई। उसके सिंहासन पर रुद्रवर्मा बैठा, जो उसकी एक अविवाहिता स्त्री से पैदा हुआ था।

रुद्रवर्मा

रुद्रवर्मा—जयवर्मा का एक औरस पुत्र था जो आयु में रुद्रवर्मा से छोटा था। रुद्रवर्मा उसको मार कर राज्य का अधिकारी बना। बाकूसेई-चाँग-काँग शिलालेख में रुद्रवर्मा की उत्पत्ति कौण्डिन्य और सोमा की कुलपरम्परा में बतलाई गई है—"कौण्डिन्यसोमदुहितृप्रभवाः"। इस परम्परा में उसे यहाँ प्रथम स्थान दिया गया है—"श्रीरुद्रवर्म्म नृपतिप्रमुखाः।" उसकी राजधानी अनिन्दितपुर नामी नगर में थी। यह नगर कहाँ पर था इस बात का अभी तक कोई निश्चय नहीं किया जा सका है।

आढ्यपुर का शिलालेख—आढ्यपुर (आँग चुमनीक) के सन् ६६७ ई० के शिलालेख में—जो जयवर्मा द्वितीय के राज्य-काल में तय्यार हुआ था—रुद्रवर्मा के पराक्रम और प्रजावात्सल्य का निर्देश इन शब्दों में किया गया है—

"राजा श्रीरुद्रवर्म्मासीत्त्रिविक्रमपराक्रमः।

यस्य सौराज्यमद्यापि दिलीपस्येव विश्रुतम्॥"

अर्थात् 'राजा श्रीरुद्रवर्मा पराक्रम में विष्णु के समान था, जिसका दिलीप का जैसा अच्छा राज्य आज भी—एक

शताब्दी बीत जाने पर भी—विख्यात है,' लोग अभी तक उसके गुणों पर मुग्ध हैं।

अब तक भारतीय चिकित्सा-शास्त्र भी कम्बोडिया में प्रवेश कर चुका था। आढ्यपुर के शिलालेख से मालूम होता है कि रुद्रवर्मा के दरबार में ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह नामी दो वैद्य थे। वैद्य भी ऐसे वैसे नहीं, साक्षात् अश्विन-कुमारों की समता रखनेवाले। ये दोनों सहोदर भाई थे।

सन् ५१८ और ५३९ के भीतर रुद्रवर्मा ने चीन को पाँच छः प्रतिनिधि-वर्ग भेजे।

——:o:——
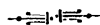
भववर्मा

भववर्मा का वंश—भववर्मा वीरवर्मा नामी किसी राजन्य-कुमार का पुत्र था। यह बात हमें वील-काँटेल्ल शिला लेख से मालूम होती है, जहाँ भववर्मा की बहिन की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है—

इस धर्मपरायणा कुमारी का विवाह सोमशर्मा नामी एक सामवेदी ब्राह्मण से हुआ था। आढ्यपुर (आँग चुमनीक) के शिला लेख में भववर्मा को रुद्रवर्मा के बाद स्थान दिया गया है। उस के पिता वीरवर्मा का उस में कोई जिक्र नहीं।

"श्री वीरवर्म्मदुहिता स्वसा श्रीभववर्म्मणः।

पतिव्रता धर्म्मरता द्वितीयारुन्धतीव या॥१॥"

चित्रसेन महेन्द्रवर्मा—चीनी इतिहासों से मालूम होता है कि रुद्रवर्मा फूनान के अन्तिम राजाओं में से था। चेन-ला (कम्बोडिया) के चित्रसेन ने फूनान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और उसके बाद ईशानवर्मा राजा हुआ। फू लोखन (लाओस) के शिला-लेख में चित्रसेन महेन्द्रवर्मा का सिंहासन पर बैठने से पूर्व का नाम बतलाया गया है।

भववर्मा और चीनी लेखक—भववर्मा महेन्द्रवर्मा का बड़ा भाई था और उससे पहले राज्य कर चुका था।

चीनी लेखकों ने इस बात का कोई उल्लेख नहीं किया; भववर्मा जैसे विजयी राजा,—नहीं राजाधिराज-की कोई चर्चा नहीं छेड़ी. उसके नाम तक को भुला दिया ! यह क्यों ? श्रीयुत विजनराज चटर्जी का अनुमान है कि सम्भवतः चेनला के साथ चीन का प्रत्यक्ष सम्पर्क चित्रसेन के पुत्र ईशानवर्मा के राज्यकाल में हुआ होगा। शायद फूनान-विजय के समय चित्रसेन अपने बड़े भाई भववर्मा का सेनाध्यक्ष था, जिससे चीनी इतिहास-लेखकों ने उसे ही फूनान का विजेता ख़याल किया होगा।

भववर्मा का चरित्र—भववर्मा ने अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से राज्य प्राप्त किया—"स्वशक्त्याक्रान्तराज्यस्य राज्ञः श्री भववर्म्मणः"—और समुद्रपर्यन्त उसकी सीमाओं का विस्तार करके फिर क्षमा गुण से प्रजा के हृदयों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उग्रपुर (हानचेइ) के शिला-लेख के प्रथम पटल के बारहवें श्लोक में लिखा है—

"शक्त्यापि पूर्वं विजिता भूमिरम्बुधिमेखला।
प्रभुत्वे क्षमया येन सैव पश्चादजीयत ॥२॥"

उसने अपनी कला-कान्ति-सम्पदा से चन्द्रवंश रूपी आकाश की शोभा बढ़ाई थी, जिससे रिपु-रमणियों के मुख-कमल अश्रु-परिप्लुत होकर फीके पड़े थे—

"सोमान्वयनभस्सोमो यः कलाकान्तिसम्पदा।
रिपुनारीमुखाब्जेपु कृतवाष्पपरिप्लवः ॥३॥"

—द्वितीय पटल।

भववर्मा और कम्बुजलक्ष्मी—सम्भवतः श्रेष्ठ-वर्मा के मातृ-वंश की राजकुमारी कम्बुजलक्ष्मी से भववर्मा का कोई परम्परा-सम्बन्ध था, जो इस समय हमारे लिए सर्वथा तिमिराच्छन्न है। ता-प्रोम के सन् ११८६ के शिला-लेख में इन दोनों के नाम साथ साथ दिये गये हैं। तत्कालीन नृपति भववर्मा से अपनी उत्पत्ति बतलाते हुए कहता है—

"श्लो० ७—राजा श्रेष्ठवर्मा के मातृ-वंश में जन्म लेकर कम्बुजलक्ष्मी ने लक्ष्मी की भाँति राज्य किया।

श्लो० ८—भवपुर का राजा भववर्मा एक राज-वंश का प्रवर्त्तक था।"

पार्वतीय राजाओं पर विजय—भववर्मा एक विजयी, शक्तिशाली सम्राट् था। पड़ोसी राज्यों को अपने अधीन करके उसने ठीक ही उग्रपुर के शिला-लेख में पार्वतीय राजाओं पर उसके विजय की बात छेड़ते हुए कवि कहता है—

"जित्वा पर्वतभूपालान् तनोति सकला भुवः।
वन्दिभिः सगुणानीकैर्य्यशोभिरिव यो दिशः ॥४॥"

इधर वह अपनी अधिकार सीमाओं का विस्तार करता है, उधर चारण लोग उसकी गुण-गरिमा का कीर्तन करके चारों ओर उसके यश का प्रसार करते हैं।

भवपुर—भववर्मा का निवास-स्थान भवपुर उसकी राजधानी व्याधपुर (अँगकोर बोरे) से भिन्न था; यह नाम

उसके राज्य के अनेक उत्तरकालीन शिलालेखों में पाया जाता है।

भववर्मा के शिलालेख—इस समय भववर्मा के राज्यकाल के अनेकों शिलालेख उपलब्ध हैं किन्तु किसी पर भी कोई तिथि या संवत्सर नहीं है। लिपि-विकास की दृष्टि से ये सब छठी शताब्दी के मालूम होते हैं, क्योंकि ये, पश्चिमी दक्षिणापथ के बिजापुर प्रदेश में, मंगलीश के ५७८ ई० के बदामि शिलालेख और पत्तदकल के पापनाथ मन्दिर के छठी शताब्दी के शिला लेखों से विशेष सादृश्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि भववर्मा का भतीजा ईशानवर्मा, जो उसकी स्थापित की हुई राजपरम्परा में तीसरा था, सन् ६१६ में विद्यमान था। अतएव यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं कि भववर्मा छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राज्य करता था।

भववर्मा का राज्य-विस्तार—श्याम में फ्नौम बाँटिया निआँग का शिला-लेख, मालूम होता है, स्वयं भववर्मा के आदेश से लिखा गया होगा। इससे प्रतीत होता है कि उसने श्याम की पूर्वी अधिकार-सीमा को लाँघ कर उसके बात्तम बाँग प्रान्त पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। यहाँ पर इस अत्यंत छोटे किन्तु सारगर्भित शिला-लेख को उद्धृत कर देना अप्रासंगिक न होगा।

"शरासनोद्योगजितार्थदानैः, क्षरस्थलोकद्वितयेन तेन ।
त्रैयम्बकं लिङ्गमिदं नृपेण, निवेशितं श्रीभववर्म्मनाम्ना ॥५॥"

'इस लोक और पर लोक दोनों लोकों को करतलगत किये हुए– पराक्रम और अलौकिक प्रभाव से इस लोक को और दान धर्म आदि से दिव्य लोक को अपनाकर—श्रीभववर्मा नामी नृप ने अपने धनुष के उद्योग से एकत्रित की हुई सम्पत्ति के दान से यह शिवलिङ्ग स्थापित किया है।'

उत्तर और दक्षिण में भी दूर दूर तक अनेक स्थानों पर उसके शिलालेख मिले हैं। जिनसे उसके राज्य-विस्तार की सूचना मिलती है। उनकी संक्षिप्त किन्तु गौरवपूर्ण ओजस्विनी भाषा एक महान् विजेता की द्योतक है। उसने केवल आस-पास के राज्यों को ही अपने अधीन नहीं किया किन्तु दूरवर्ती अपराजित प्रदेशों पर भी अपनी धाक जमाई। उग्रपुर-शिलालेख के प्रथम पटल के तेरहवें श्लोक में लिखा है।

"यस्याकृष्टाः प्रभावेन परे युध्यजिता अपि।
राजश्रियमुपादाय नमन्ते चरणाम्बुजे ॥६॥"

युद्ध में नहीं जीते गये हैं, प्रभाव से आकर्षित हुए हैं, और आकर्षित भी ऐसे कि राजसी ठाट बाट से आ आ कर महाराजाधिराज श्रीभववर्मा के चरणों में सिर नवा जाते हैं।

शिला-लेखों की काव्य-शैली—जिस सरल सुस्पष्ट हृदयंगम भारतीय काव्य-शैली में ये शिला-लेख लिखे गये हैं वह भी देखने लायक है। यहाँ पर उसका थोड़ा सा दिग्द-र्शन कराया जाता है।

देखिए उग्रपुर-शिलालेख प्रथम पटल—

"जितमिन्दुवतंसेन मूर्द्ध्ना गंगां बभार यः।

उमाभ्रभंगजिह्मोर्म्मिमालामालुमिवामलाम् ॥१॥

राजा श्रीभववर्म्मेति पतिरासीन्महीभृताम्।

अप्रधृष्यमहासत्वस्तुङ्गो मेरुरिवापरः ॥ २ ॥

सोमान्वये प्रसूतस्य सोमस्येव पयोनिधौ।

केनापि यस्यतेजस्तु जाज्वलीति सदाहवे ॥३॥

अन्तस्समुत्था दुर्ग्राह्या मूर्त्यभावादतीन्द्रियाः।

यदा षडरयो येन जिता बाह्येषु का कथा ॥४॥

नित्यदानपयस्सिक्तकरानेव मतङ्गजान्।

आत्मानुकारादिव यः समराय समग्रहीत् ॥५॥

शरत्कालाभियातस्य परानावृततेजसः।

द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि ॥६॥

यस्य सैन्यरजोधूतमुज्झितालङ्कृतिष्वपि।

रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्ण्णभावमुपागतम् ॥७॥

रिपोरिव मनः शुष्कं नगरीपरिखाजलम्।

यस्य योधैः करापीतमासन्नै रविणा सह ॥८॥

परीतायामपि पुरि ज्वलता यस्य तेजसा।

पुनरुक्त इवारोपः प्राकारे जातवेदसः ॥९॥

आरम्भ में इन्दुशेखर शिव की स्तुति है। पहले दिखलाया जा चुका है कि फ्नौम बाँटिया निश्राँग में भववर्मा ने शिव-लिङ्ग की स्थापना की थी। आढ्यपुर-शिलालेख में "गम्भीरेश्वर" महादेव को उसके राज्यकल्पतरु का फल बतलाया गया है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि वह शिव का परम भक्त था। शैव सम्प्रदाय पर उसकी विशेष श्रद्धा थी।

भववर्मा अजेय, उदार-हृदय और मेरुपर्वत जैसा उदात्त था। रणभूमि में उसके हृदय में अपूर्व उत्साह का सञ्चार हो आता था। उसके मुखमण्डल पर दिव्य तेज छिटकने लगता था। काम क्रोधादि मनोविकार-रूपी दुर्धर्ष शत्रुओं पर उसने अपनी वश्यता कायम कर ली थी, बाह्य शत्रुओं की तो बात ही क्या है। उसकी दान-शीलता और उसकी वदान्यता सर्वथा उसके प्रभुत्व के अनुरूप थी। संग्राम के लिए उसने मदमस्त हाथियों का संग्रह कर रक्खा था। उसकी टिड्डी-दल सेना अन्तरिक्ष को धूलिधूसरित करती हुई युद्ध के लिए प्रयाण करती थी तो शत्रुओं के प्राण सूख कर कण्ठ पर आजाते थे उसके असह्य तेज के सामने कोई टिक नहीं सकता था।

"येनेयदैडवंश्यानां मर्यादालङ्घनं कृतम् ।

यदेषामवनिर्भूमेरतिक्रान्ता पराक्रमैः ॥११॥"

उसने इडा के वंशधरों की मर्यादा का उलङ्घन किया तो केवल इस बात में कि उनके परम्परागत राज्य की सीमाओं को अपने पराक्रम से तोड़ डाला।

वह सर्वगुण-सम्पन्न होने पर भी अभिमानी नहीं था, इस पर खूबी यह कि उसकी ज्ञान-पिपासा सदा बनी रहती थी, कभी शान्त ही नहीं होती थी—

"अवाप्य षोडशकलाः शशाङ्को याति पूर्ण्णताम् ।
असंख्या अपि यो लब्ध्वा न पर्य्याप्तः कदाचन ॥१५॥
नास्ति सर्व्वगुणः कश्चिदिति वाक्यं महाधियाम् ।
येनासिद्धीकृतमिदं स्वेनापि वचसा विना ॥१६॥"

भववर्मा का पुत्र—भववर्मा का एक पुत्र था—

"तस्य राजाधिराजस्य नवेन्दुरिव यः सुतः ।
गुणकान्त्यादिभिर्य्योगादुन्नेत्रयति यः प्रजाः ॥१७॥
रागान् दधति भूपानां चूडारत्नमरीचयः ।
यस्य पादनखेष्वेवमनागसि न चेतसि ॥१८॥"

जो अपने गुणों और कान्ति आदि के योग से प्रजा को आप्यायित करता था। यद्यपि अनेकों राजा लोग उसका आधिपत्य मानते थे, उसके विमल हृदय में इससे कोई विकृति नहीं आने पाई थी।

जब भववर्मा मरा तो वह अनावाध राजा बना—

"शैवं पदं गते राज्ञि दृष्ट्वा यमुदितं प्रजाः ।
मुञ्चन्ति युगपद्वाष्पे शोकानन्द-समुद्भवे ॥१९॥

कम्बोडिया के शिलालेख

संस्कृत और खमेर भाषा—कम्बोडिया के शिलालेख आरम्भ ही से संस्कृत और प्राचीन खमेर इन दोनों भाषाओं में लिखे जाते रहे। संस्कृत धार्मिक और व्युत्पन्न भाषा थी, वह बाहर से वहाँ ले जाई गई थी किन्तु वहाँ उसका गहन अवगाहन किया जाता था। प्राचीन खमेर देश की बोलचाल की भाषा थी जो कम्बोडिया की आधुनिक भाषाओं से कई अंशों में पृथक् है। संस्कृत-लिपि में लिखी जाने पर भी उसका संस्कृत से कोई मौलिक सम्बन्ध नहीं है।

सम्मान का स्थान संस्कृत को प्राप्त है। देवताओं का आह्वान, दानियों के दान और वदान्यता की प्रशंसा, सभी कुछ महत्ता के विषयों का उसी में कीर्तन किया गया है।

खमेर भाषा में साधारणतया देवस्व, दान आदि के सम्बन्ध में उन छोटी छोटी बातों का वर्णन है जो संस्कृत के संकुचित कवितामय शरीर के अन्दर सरलता से नहीं लाई जा सकती थीं।

शिलालेखन की कला—संस्कृत अथवा खमेर जो कोई भी भाषा हो, ये रचनाएं शिलालेखन की अप्रतिम कृतियाँ हैं। सिद्धहस्तता और आलेख्य-सौष्ठव देखते ही बनते हैं; अक्षर सुन्दर, स्पष्ट और प्रशंसनीय ढंग पर खुदे हुए हैं और

प्राचीन कम्बोडिया का एक शिलालेख

सुदीर्घ ललित आवर्तन-रेखाओं से अलङ्कृत हैं। मातृभूमि भारतवर्ष में शिला-लेखन का कोई ऐसा स्मारक नहीं है जो नियमानुसारी विन्यास, चतुरस्रता, संवादिनी चारुता और प्रपञ्च की पूर्णता में कम्बोडिया की छः शताब्दियों की सर्वांग सुन्दर कृतियों की समता कर सके।

मातृ-भूमि से घनिष्ठ सम्बन्ध—संस्कृत इतनी शुद्धता और सफाई से अङ्कित की गई है कि उसमें कोई बात कहने को नहीं रह गई; दोष नितान्त दुष्प्राप्य हैं। हर एक बात मातृभूमि के साथ उसके दूरवर्ती उपनिवेशों का,—जहाँ भारतीय प्रवासी भारत की भाषा, लिपि और धर्म को ले गये थे, अनवरत और घना सम्बन्ध प्रदर्शित करती है। उसकी धार्मिक और दार्शनिक पद्धतियाँ, उसकी ब्राह्मणी सभ्यता, उसका न्याय-विधान, उसकी साहित्यिक आदतें, यद्यपि सभी बातें समुद्र पार कर कम्बोडिया के नैसर्गिक रंग में रंग जाती हैं; भारतीय संस्कृति और सभ्यता का वहाँ अनुशीलन होता है। वीर-काव्यों की कथाओं के राजा वहाँ पहुँच कर प्रतिष्ठा पाते हैं। विहारों और मन्दिरों में विशाल धर्म-ग्रन्थों—रामायण महाभारत, पुराण, वेदों तक—का अध्ययन और वाचन होने लगता है। वील-काँटेल शिलालेख में, जो श्याम के एक और प्रान्त में उपलब्ध हुआ है, भववर्मा के बहनोई श्रीसोमवर्मा के प्रतिग्रह के विषय में लिखा है—

'श्रीसोमशर्म्मार्कयुतं स श्रीत्रिभुवनेश्वरम् ।

अतिष्ठिपन्सह[illegible]क्षिणम् ॥

रामायणपुराणाभ्यामशेषं भारतं ददत् ।

अकृतान्वहमच्छेद्यां स च तद्वाचनास्थितिम् ॥"

इन शिलालेखों की ऐतिहासिक त्रुटि— किन्तु शिलालेखान्तर्गत यह विस्तृत संस्कृत-साहित्य भारी दोषों से खाली नहीं है। जैसे मातृभूमि में वैसे ही यहाँ भी संस्कृत ऋषियों की पुनीत भाषा है। वह विस्मय-जगत् की वीरता से सम्बन्ध रखती है; उसके वर्णों, उसके नादों, उसके पदों में प्रबल सामर्थ्य है; वह दिव्य वाणी है, प्रकृति की शक्तियों पर उसका प्रभुत्व है। फलतः जिन विषयों को वह व्यक्त करती है उनकी लौकिक सार्थकता नष्टप्राय हो जाती है।

रचयिता बहुधा राजाओं के अनिश्चित, ओजस्वितापूर्ण, निरर्थक हास्यास्पद स्तवन में भ्रान्त पथिक की तरह अयथार्थता के निष्प्रभ अरण्य की ओर जा निकलते हैं। संक्षेप में, उनका सबसे बड़ा अवगुण यह है कि जहाँ घटनाओं और चरित्र की वास्तविकता पर विशेष ध्यान देना चाहिए वहाँ वे व्यर्थ वाग्जाल में फँस जाते हैं; उत्प्रेक्षा, श्लेष, अतिशयोक्ति की भरमार से विषय को अस्वाभाविक बना डालते हैं; रूपकों के कृत्रिम बन्धों पर चढ़ कर लोक-सम्बन्ध को भूल जाते हैं। जैसे भारत में वैसे ही यहाँ भी हिन्दू कविता रहस्य को अपने में ऐसे ठूंस कर भरती है कि उसे ढूँढ़ने कहीं जाना नहीं पड़ता; अपनी हाट में ऐसे कूटों को फैलाती है, ऐसी क्लिष्ट कल्पना को प्रदर्शित करती है, जिसमें वस्तुतः कोई सार नहीं होता। न मौलिकता है, न भावों की उदात्तता।

महेन्द्रवर्मा।

भतीजे से संघर्ष—महेन्द्रवर्मा अपने भतीजे—भववर्मा के पुत्र—के साथ, जिसकी चर्चा पान्हेश्र हार और हान चेइ (उग्रपुर) शिलालेखों में हुई है, खूनी संघर्ष करने के बाद छठी शताब्दी के अन्त में सिंहासन पर बैठा होगा। उग्रपुर के शिलालेख में, जैसा कि हम देख चुके हैं, पहले शैव-पद को प्राप्त हुए राजाधिराज श्रीभववर्मा की सविस्तर प्रशंसा की गई है, फिर उसके पुत्र और उत्तराधिकारी का स्तवन है जो आरम्भ होते न होते सहसा दृष्टि-पथ पर से अन्तर्हित हो जाता है, मानो सामयिक शोकान्त घटनाओं ने शिला-लेखक के हाथों से हथोड़ी छेनी गिरा दी हों।

अपने भाई के जीवन-काल में यह भावी महेन्द्रवर्मा, जो उस समय चित्रसेन नाम से प्रसिद्ध था, महती स्रोतोवाहिनी मेकाँग की उपत्यका में शासन करता था। मालूम होता है अपने शासन की चरम सीमाओं—उत्तर की ओर नदी के बायें तट पर विस्तीर्ण सहायक-सरिता मून के मुँहाने के निकट 'राज्य-गिरि' फू लोखन में और दक्षिण में नदी के अन्तिम प्रपातों के नीचे 'थमा क्रे' नामी विशाल परिभ्रान्त चट्टान—पर शिवलिङ्ग की स्थापना करते हुए वह लेखन-शिलाओं पर अपना हस्ताक्षर छोड़ गया था।

इन दोनों स्थानों के बीच महेन्द्रवर्मा का निवास केन्द्रस्थ स्थान 'तोमू' हो सकता था, जो नदी के बायें तट पर बासाक नगर के नीचे स्थित था। यहाँ शिवपत्नी रुद्राणी का एक पुराना मन्दिर भी था। नवीं शताब्दी के अन्त में, बेयाँग के विशाल मन्दिर के प्रतिष्ठापन के समय, यशोवर्मा ने पत्थर का एक घोषणा-पटल भेज कर इस मन्दिर को सन्मानित किया था।

महेन्द्रवर्मा के शिलालेख—महेन्द्रवर्मा के सम्बन्ध में जो शिला-लेख उपलब्ध हैं यहाँ पर उनका परिचय करा देना आवश्यक है। सबसे पहले फू लोखन के शिलालेख को लीजिए। इससे हमें चीनी लेखकों के चित्रसेन और श्रीभव-वर्मा के भाई महेन्द्रवर्मा के एक ही व्यक्ति होने का पता लगता है, उसके धार्मिक सम्प्रदाय और उसकी वीरता का ज्ञान होता है, उसके पितृ-परिचय की पुष्टि होती है। "वह श्री वीर-वर्मा का पुत्र है, कनिष्ठ होने पर भी अपने बड़े भाई भववर्मा से किसी प्रकार शक्ति में कम नहीं है। वह प्रभविष्णु पुरुषों के सभी लक्षणों से युक्त है। उसका पहला नाम चित्रसेन है, महेन्द्रवर्मा यह राज-नाम उसने अभिषेक के समय ग्रहण किया है। देश को जीत कर उसने अपनी विजय की स्मृति में इस पर्वत पर गिरीश के लिङ्ग की स्थापना की है।"

'थमा के' शिलालेख से शैव सम्प्रदाय के प्रति उसकी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित होती है। माता-पिता की अनुमति से वह इस चट्टान पर शिवलिङ्ग का प्रतिष्ठापन करता है। इस लिङ्ग की स्थापना उसने राज्य पाने से पहले की थी।

चम्पा के ६५८ के शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है कि महेन्द्रवर्मा ने अपने भाई के राज्य-विस्तार में एक वीर सेनाध्यक्ष की भाँति शत्रु-सैन्य को तलवार के घाट उतारा था और विजयश्री को भववर्मा के हवाले किया था।

आढ्यपुर के शिलालेख में हम महेन्द्रवर्मा के सम्बन्ध में पढ़ते हैं—

"तस्य तौ मंत्रिणावास्तां सन्मतौ कृतवेदिनौ ।
धर्म्मशास्त्रार्थशास्त्रज्ञौ धर्मार्थाविव रूपिणौ ॥६॥

महेन्द्रवर्म्मणो भूयः श्रीमतः पृथिवीपतेः ।
तौ चाप्यमात्यतां प्राप्तौ प्रत्ययौ कृत्यवस्तुषु ॥७॥

सिंहदेवोऽनुजो राज्ञा दूतत्वे सत्कृतः कृती ।
प्रीतये प्रेषितः प्रेम्णा चम्पाधिपनराधिपम् ॥८॥"

महेन्द्रवर्मा ने धर्मदेव और सिंहदेव दो राजनीति-विशारद विश्रुत बन्धुओं को, जो भववर्मा के समय में भी मंत्री रह चुके थे, अपना सचिव बनाया। उन्होंने इस शासन में भी अपने पद की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खा और शीघ्र ही अनेक राज-काजों में सफलता के साधन बने। सिंहदेव को राजा ने राजदूत का सम्मान प्रदान किया, मित्र-भाव स्थापित करने के लिए उसे चम्पा के दरबार में भेजा। चम्पा में पहली शताब्दी में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई थी, तीसरी शताब्दी के अन्त में वहाँ एक हिन्दू राज्य क़ायम हुआ था।

इस प्रकार महेन्द्रवर्मा के राजत्व-काल में चम्पा और कम्बोडिया के भारतीय उपनिवेशों में मित्र-भाव की प्रतिष्ठा हुई।

कम्बोडिया में शैव सम्प्रदाय और वेदान्त का संमिश्रण—बेयाँग का शिलालेख हमें बतलाता है कि किसी एक ध्रुवपुण्यकीर्त्ति के पौत्र और ध्रुव नामी ब्राह्मण के पुत्र 'विद्यादिविन्द्वन्त' ने एक शम्भु-पाद की स्थापना अथवा उसका संस्कार किया। यही नहीं किन्तु जिस पर्वत पर यह पाद बना था वहाँ उसने मनुष्यों के स्नान के लिये एक तीर्थ भी बनाया और इस स्थान को किसी अन्य तीर्थ के जल से पवित्र किया। जिस कला-कौशल से यह लेख खुदाया गया है उससे पूर्वकालीन शिलालेखों की अपेक्षा पूर्णता का उच्च आदर्श प्रदर्शित होता है।

'विद्यादिविन्द्वन्त' नाम बिल्कुल असाधारण जैसा प्रतीत होता है। इसका शब्दार्थ है—विद्या जिसके आदि में और विन्दु जिसके अन्त में है। श्रीयुत बार्थ इसे विशद करते हुए कहता है कि विद्या से अभिप्राय वेद-शब्दब्रह्म अथवा उपनिषदों की अवरा गति का है और विन्दु अन्तिम तत्त्व और अत्यन्त सूक्ष्म वर्ण 'ओं' का पर्याय है। यह एक वेदान्त का नाम है और यहाँ पर वेदान्त-विषयक स्तवन के सर्वथा अनुरूप है। मंगलाचरण भी मनन करने योग्य है—

"विशुद्धतर्क्कांशमयुक्तिनिश्चयै-

न्निरूप्य.........प्रतिष्ठितम्।

यमान्तरं ज्योतिरुपासते बुधा

निरुत्तरं ब्रह्मपरं जिगीषवः ॥

तपः श्रुतेज्याविधयो यदर्प्पणा

भवन्त्यनिर्द्देश्यफलानुबन्धिनः ।

न केवलं तत्फलयोगसंगिना

मसंगिनां कर्म्मफलत्यजामपि ॥"

'सर्वोपरि पर ब्रह्म को पाने की इच्छा से बुद्धिमान् जिस अन्तर्ज्योति की उपासना करते हैं, शुद्ध तर्क और शान्त चित्त के अनवरत अभ्यास से जिसको वे अपने हृदयमन्दिर में प्रतिष्ठित पाते हैं । तपस्या, वेदाध्ययन, यज्ञ के विधानों को उसके अर्पण कर देने से अनिर्वर्णनीय सिद्धि की प्राप्ति होती है, केवल उन्हीं को नहीं जो फल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्त होते हैं किन्तु उनको भी जो निष्काम बुद्धि से कर्म करते हैं ।'

"निसर्गसिद्धैरणिमादिभिर्गुणै-

रुपेतमंगीकृतशक्तिविस्तरैः ।

धियामतीतं वचस्...........

अनास्पदं यस्य पदं विदुर्बुधाः ॥"

'वह, जिसके पाद निराधार, दिव्य गुणों से युक्त और विविध दैवी शक्तियों के आधार हैं, मन और वाणी से परे है; केवल बुद्धिमान् उसका साक्षात कर सकते हैं ।'

उक्त स्तवन से तत्कालीन शैव सम्प्रदाय की यथार्थता प्रदर्शित होती है । श्रीयुत बार्थ इसे वेदान्तिक शैव मत कहते हैं; शिव का परमात्मा से, उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म से, सारूप्य दिखलाया गया है । वह सत्ताविशेष से परिच्छिन्न पौराणिक जगत् का शिव नहीं, प्रत्युत घट घट में रहनेवाला अलौकिक प्रकाश है—शुद्ध अन्तर्ज्योति है ।

प्रस्तुत शिलालेख में शम्भुपाद की स्थापना धार्मिक इतिहास के विकास में एक नई वस्तु है । हम विष्णुपाद और बुद्धपाद से परिचित हैं । भारत में, गया में प्रख्यात विष्णुपाद है । लङ्का में आदम शिखर पर जो विश्रुत बुद्ध-पाद है उसे भी हम जानते हैं, श्याम में भी एक बुद्धपाद है । किन्तु शिवपाद के विषय में हमने अभी तक कहीं नहीं सुना था । अभाग्यवश उक्त शिलालेख कई स्थलों पर बिल्कुल छिल गया है, अतएव प्रस्तुत शम्भुपाद के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता ।

——:o:——

ईशानवर्मा ।

प्रतिस्पर्धिनी शक्तियों का नाश—ईशानवर्मा अपने पिता के बाद राज्य का अधिकारी बना। उसका राज्य-काल सम्भवतः सन् ६१६ से आरम्भ होता है।

राज्य पाते ही उसने सारी प्रतिस्पर्धिनी शक्तियों को ऐसी मौलिक युक्ति से विशृङ्खल किया जिसका चीन को मर्मस्पर्शी आघात पहुँचा। उसने अपने सभी भाइयों का अङ्ग-भङ्ग कर डाला—किसी की उँगली तोड़ी तो किसी की नाक काट ली। जो जी में आया कर दिया; और फिर उन्हें किसी एकान्त स्थान में भेज दिया जहाँ परिमित वृत्ति से जीवन-निर्वाह करना ही उनका एकमात्र अधिकार रक्खा गया, सार्वजनिक जीवन से उन्हें सर्वथा वंचित कर दिया गया।

सन् ६२७ के लगभग उसकी राजधानी में बीस हज़ार से भी अधिक परिवार थे। वह "क्षितिमण्डल का अधीश्वर, तीन राजाओं का अति यशस्वी प्रभु और तीन नगरों का शक्तिशाली भोक्ता" था—

"भूपत्रयस्योरुयशो विधाता भोक्ता बलीयान् नगरत्रयस्य ।
शक्तित्रयस्येव हर स्थिरस्य श्रीशानवर्म्मा जयति क्षितीशः ॥"

(स्वैचुओ शिलालेख)

ईशानवर्मा का राज-वैभव—यह तीन नगर चक्राङ्कपुर, अमोघपुर और भीमपुर थे । जान पड़ता है उसने अनेक महत्त्वपूर्ण विजयें प्राप्त कीं और अपनी शक्ति से संसार में अपने नाम को उज्ज्वल बनाया । चीनी लेखकों के कथनानुसार उसके राज्य में तीस नगर थे । उसका दरबार वैभव-सम्पन्न था । सूइ परिवार के इतिहास में ईशानवर्मा की राजसभा का वर्णन इस प्रकार है—"राजा सात प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत और पांच प्रकार की सुगंधियों से सुरभित मञ्च पर बैठता है। उसके ऊपर हाथी-दांत और सोने के फूलों से खचित, बहुमूल्य लकड़ी के, स्तम्भों पर एक वितान है । सिंहासन के प्रत्येक पार्श्व में एक आदमी धूपपात्र को ले जाता है, जिसमें सुगन्धित द्रव्य जलते रहते हैं । राजा ज़री किये हुए नीललोहित रेशम के वस्त्र पहिनता है । वह मोतियों और अन्य बहुमूल्य रत्नों से सजे हुए मुकुट को धारण करता है और स्त्रियों की तरह वह कानों में कुण्डल पहनता है। उसके जूते हाथी-दांत के काम से अलंकृत होते हैं।"

चीन के राज-कर से मुक्ति—राज्य-प्राप्ति के कुछ ही समय बाद, सन् ६१६ के लगभग, उसने अपने पूर्ववर्ती राजाओं की भाँति चीन-सम्राट् के पास उपहार-सहित एक प्रतिनिधि-वर्ग भेजा । किन्तु चीनी लेखक कहते हैं, यहीं पर सम्बन्ध-विच्छेद होगया । ईशानवर्मा ने कम्बोडिया को उस राज-कर से मुक्त कर दिया. जिसे खमेर लोग अति प्राचीन काल से - सम्भवतः ईसामसीह से पूर्व सन् १११ के लगभग

से जब हान-वंश के सम्राट् हिआओ-वू-ति ने बड़ी भारी विजयें प्राप्त की थीं—समय समय पर चीन को भेजा करते थे इतिहास के पढ़नेवाले जानते हैं कि इस विक्रमशील सम्राट् ने १२५ से ११० ई० पू० तक राज्य किया, महान् विजय-लाभ किया और चीन को अनेक सामन्त-राज्यों के मण्डल से परिवृत कर दिया।

यह ठीक है कि कि कम्बोडिया का एक संस्कृत शिला लेख प्रारम्भिक राजाओं का उल्लेख करते हुए कहता है कि वे कम्बु-भूमि का भार वहन-करनेवाले और श्रुतवर्मा के वंश धर थे और उन्होंने अपने देश को चीन के राज-कर से मुक्त करके अपने स्वाभिमान की रक्षा की और अपने आपको गौरवशाली समझा। फिर "उन राजाओं का प्रादुर्भाव हुआ जिनके परिवार का अग्रणी श्रीरुद्रवर्मा था और जिनका प्रभव श्री कौण्डिन्य और सोमा से था।

श्रीकम्बुभूभरभृतः श्रुतवर्म्ममूला

मौलादपास्तवलिबन्धकृताभिमानाः।

....

श्रीरुद्रवर्म्मनृपतिप्रमुखास्ततः

श्रीकौण्डिन्यसोमदुहितृप्रभवाः क्षितीन्द्राः।

जाता जगत्त्रयविकीर्ण्णयशःप्रकाशा

दक्षाः प्रजाविरचने श्रुतशालिनो ये॥"

(वाकसेइ चामक्रोन शिलालेख

सन् ६४८ का यह शिलालेख उन राजाओं का निर्देश करता है जिन्होंने अपने देश को स्वाधीन किया और जो श्रुतवर्मा और प्रथम जयवर्मा के दर्मियान राज्य कर चुके थे—जिनमें कुछ अज्ञात राजा भी सम्मिलित हैं। कवियों और वंशावली-लेखकों की सभी बातों पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता, विशेषकर उस दशा में जब वे इतने दूरवर्ती अतीत का वर्णन कर रहे हों। प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन, खमेर सदा ही से अति क्षुद्र इतिहास-लेखक प्रतीत होते हैं—तुच्छ से तुच्छ निमित्त से भी अपने अतीत को झूठ का रंग दे देने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। अतएव इस दूरस्थ परोक्षवर्ती सामन्त-राज्य की स्वाधीनता के विषय में चीनी लेखकों की बात को ही प्रामाणिक मानना अधिक युक्ति-युक्त जँचता है। देश को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करने का श्रेय ईशान-वर्मा को ही दिया जाना चाहिए।

ईशानपुर—ईशानवर्मा की राजधानी, जिसे चीनी लेखक ईशानपुर बतलाते हैं, स्थानीय शिलालेखों में इस नाम से उल्लिखित नहीं है। ईशानपुर का पर्यायवाची एक और नगर उस समय अथवा उससे उत्तरवर्ती काल में विद्यमान था; परम्परागत प्रथा के आधार पर स्मृति-भ्रम से काला-न्तर में उसे ही राजधानी समझ लिया गया होगा। राजा लोग अपनी रुचि के अनुसार जनपद में अपने लिए जिन निवास-स्थानों को नियत करते थे वे उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे: श्रेष्ठपुर और भवपुर ऐसे ही नाम हैं।

व्याधपुर—उस युग की असली राजधानी व्याधपुर थी। राजधानी का नाम व्याधपुर कैसे पड़ा, यह बात विचारणीय है। सम्भवतः प्राक्तन अनुश्रुति से, दिव्य धनुष के सहारे राज्य-लाभ करने वाले प्रथम कौण्डिन्य से इसका सम्बन्ध है। शिव को आदि व्याध माना गया है; क्या सन्देह है कि शिव के प्रसाद से ही कौण्डिन्य ने अलौकिक धनुष प्राप्त किया हो और प्रभुत्व प्राप्त करने पर अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिए अपनी राजधानी का नाम व्याधपुर रक्खा हो! इसका दूसरा नाम धन्विपुर था। फ्रेंच पुराविद् ऐमोनिए की गवेषणा के अनुसार यह नगर आधुनिक अँगकोर बोरेह के अवशेषों पर स्थित था।

व्याधपुर की परिस्थिति का वर्णन श्रीयुत ऐमोनिए ने इस प्रकार किया है,—"स्रोतों के मध्य में, छोटा किन्तु उपजाऊ, समृद्ध, भली भाँति काश्त किया हुआ अथवा मधुमय ताड़-वृक्षों से संकुल और परिवृत उद्यानों से ढका हुआ काँद्ल स्टिंग का संकरा प्रान्त सदा ही सभ्यता के—कम्बोडिया की भौतिक और नैतिक संस्कृति के—प्रबल केन्द्रों में एक रहा। उसके दक्षिण में 'बाटि' नाम का अधिक विस्तीर्ण प्रान्त है। इसकी समस्थली साधारणतया वार्षिक बाढ़ों की पहुँच से काफ़ी ऊँची है, बीच बीच में उठे हुए भूमिभाग और छोटे छोटे पर्वत बिखरे हुए हैं, एक चित्रवर्ण सरोवर उसकी शोभा बढ़ाता है, पश्चिम में पारमार्थिक पर्वत खड़े है, जबकि पूर्व की ओर अधित्यका दलदलों, जलमय स्थलों और झीलों की एक

लम्बी पट्टचीर में अवतरण करती है जहाँ वार्षिक परिप्लव से पुष्ट होकर मेकाँग के शाखा-नद अपने तटों को लाँघते हुए आपे से बाहर हो जाते हैं। उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को फैली हुई इस निम्न स्थली का सारा जल शोडाक नदी में परिवाहित होता है। यह नदी यहाँ से आगे बढ़ती है और कुछ दूर तक इसी दिशा में बहती हुई — कोचीन के नगर के पास जिससे उसने अपना नाम प्राप्त किया है—अपनी जल-राशि को मेकाँग में उँडेल देती है। बाईं ओर इस नदी के मेकाँग के साथ कुछ समागम हैं, दाहिनी ओर से वह उन सहायक-सरिताओं को साथ लेती है जो अन्य सरोवरों और निम्न स्थलों से उपहार ले आती हैं। लगभग सारा ही प्रदेश निम्न और गम्भीरतया परिप्लावनीय है।

दक्षिण ओर की प्रमुख सहायक-सरिता प्रेक — आँगकोर बोरेह (व्याधपुर) का जलमार्ग — है। यह नदी बहुत लम्बी नहीं किन्तु विस्तीर्ण है और गन-बोट एवं बड़ी २ किश्तियों के प्रवेश के लिये काफ़ी गहरी है। यह मछलियों से भरे हुए तालाबों और झीलों के एक और समुदाय से शोडाक नदी का समागम करती है, जो बाटि प्रान्त के दक्षिण में दूर तक चले गये हैं। इस प्रान्त की सापेक्ष उठी हुई भूमि इन दो सरोवर-परम्पराओं के बीच तन कर दक्षिण-पूर्व की ओर सँकरी होती हुई स्थूल मिट्टी के एक त्रिभुज की रचना करती है जिसका शीर्ष ठीक अँगकोर बोरेह के अवशेषों तक पहुँचने के लिए प्रेइ क्रेबास के छोटे प्रान्त में प्रवेश करता है।

अतएव, समुद्र से विशाल नौकाओं द्वारा अति सुगम, यह

नगर सम्भवतः वार्षिक बाढ़ की दोहरी धारा के निकट और जब पानी घट जाता था, ज्वारभाटे की दोहरी दैनिक धारा के निकट अधोवाहिनी जल-धारा के ऊपर बना हुआ था। स्थल-मार्ग से राजधानी का अत्यन्त उर्वरा उत्तरी प्रदेशों से अनावाध समागम था।

उच्छ्रित भूमिभाग, जो अब भी प्राचीन प्राकारों को सूचित करते हैं, जलमार्ग के दोनों तटों पर फैले हुए हैं। उत्तरी तट का प्राकार वृत्तखण्ड के आकार का बना हुआ है। नगर का यह भाग, जिसमें कोई स्मारक विद्यमान नहीं हैं और जिसका विस्तार बहुत परिमित है, सम्भवतः व्यवसायी लोगों का केन्द्र था। आज भी वहाँ चीनी और अनामी लोगों को छोड़ कर मुश्किल से ही और कोई लोग रहते हैं। दूसरे तट पर दक्षिणी भाग कहीं अधिक विस्तृत था। नगर-निकासों में से—जहाँ नगर के प्राचीन फाटक विद्यमान थे—एक स्थल पर एक अखण्ड-शिला-स्तम्भ उपलब्ध हुआ था, जो एक विना सींग के बैल की मूर्ति का आधार था। यहाँ काम्बोज लोग निवास करने और उद्यानों को काश्त करते थे, जो आज राज्य के प्रधान सचिव की सम्पत्ति हैं। यहाँ प्राचीन नगर के मध्य में अब भी उच्छ्रित भूमिभाग देखे जा सकते हैं जो नदी के समानान्तर अथवा उसके साथ लम्ब-रूप से स्थित हैं: सुन्दर बृहदाकार ईंटों के आकृतिहीन ढेर राजप्रासाद और मन्दिरों की अवस्थिति को सूचित करते हैं।

छोटे छोटे नंगे पर्वतों की शृङ्खला—कम से कम नगर के दक्षिण में एक स्थान से—पूर्व से पश्चिम को दौड़ती हुई चली

गई है। इनमें से सबसे पूर्व के पर्वत में निसर्गतः एक कन्दरा खुदी हुई है, जहाँ प्राचीन काल में कम्बोडिया-निवासी अपनी धार्मिक और खूनी रस्मों की व्यवस्था करते थे। यह पर्वत इस समय भी 'लाइमोनाइट' की बनी हुई सुन्दर अट्टालिका के अवशेषों से आच्छन्न है; ऊपर नुकीली गुम्बदाकार छत ईंट की बनी हुई थी। इस स्मारक को सातवीं शताब्दी में रक्खा जाना चाहिए।

कम्बोडिया और चम्पा—ईशानवर्मा ने चम्पा के साथ मैत्री बनाये रक्खी। चम्पा का ६५८ का एक शिला-लेख किसी एक जगद्धर्म का उल्लेख करता है जो चम्पा से काम्बुज-नगर भवपुर को गया, "जहाँ ब्राह्मणर्षभ कौण्डिन्य ने अपने भाले को स्थापित किया था जो उसे द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा से मिला था।" नागी और उसके वंशधरों—विशेषतया भव-वर्मा और उसके छोटे भाई महेन्द्रवर्मा—का उल्लेख करने के बाद ईशानवर्मा की चर्चा छेड़ी गई है, जो राजकुमारी श्रीश-र्वाणी का पिता था। यह राजकुमारी चम्पा के जगद्धर्म को ब्यांही गई थी और उसे चम्पा के भावी राजा श्रीप्रकाशधर्म की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

शैव और वैष्णव सम्प्रदाय—हम पहले देख चुके हैं कि शैव सम्प्रदाय को कम्बोडिया में आरम्भ ही से विशेष महत्त्व दिया जाता रहा। वैष्णव धर्म ने भी प्रयत्न किया कि उसके पास पास ही आसन ग्रहण कर सके। ईशानवर्मा के शासन-काल में यह स्पर्धा इतनी बढ़ी कि शिव और विष्णु

दोनों को एक ही शरीर दिया जाने लगा—दोनों की सम्मिलित प्रतिमाएँ बनने लगीं। किन्तु फिर भी आह्वान का स्थान शिव ने ही ग्रहण किया, यही क्यों, ब्रह्मा, विष्णु और करोड़ों रुद्र कभी कभी उनके अंगरक्षक तक बनते हुए दिखाई देते हैं! स्वै चुओ के शिलालेख का मङ्गलाचरण स्पष्ट शब्दों में बतला रहा है—

"जयत्यखण्डार्द्धशशांकमौलि-
राखण्डलानम्रकिरीटकोगः।
सधातृनारायणरुद्रकोटि-
रव्याहतः शम्भुरनन्तशक्तिः॥"

'सिर पर अर्ध चन्द्र को धारण करने वाले, इन्द्र के किञ्चित झुके हुए मुकुट पर स्थित, ब्रह्मा विष्णु और करोड़ों रुद्रों से युक्त, अक्षत, अनन्तशक्ति शम्भु की जय हो।'

इन शब्दों को सुन लेने के बाद भी कम्बोडिया में शैव सम्प्रदाय के अनन्यसामान्य उत्कर्ष के विषय में कोई शङ्का रहे तो उसके निराकरण के लिए इससे प्रबल युक्ति और क्या हो सकती है कि सन् ६२६ के वात चक्रेत शिलालेख में भी जहाँ शिव और विष्णु की संमिलित मूर्ति की प्रतिष्ठापना का उल्लेख है, आरम्भ में शिव ही का आह्वान किया गया है—

"जयतीन्दुकलामौलिरनेकगुणविस्तरः।
स आदिरपि भूतानामनादिनिधनः शिवः॥"

'सिर पर चन्द्र-कला को धारण करने वाले शिव की जय हो, जो अपने अनेक गुणों से अपने आपको प्रदर्शित करता है,

जो प्राणियों का आदि होता हुआ भी अनादि और अनन्त है।

केवल एक शिला-लेख ऐसा है जिसमें विष्णु और महेश का आह्वान साथ साथ किया गया है।

कम्बोडिया के भारतीय राजाओं ने ही नहीं किन्तु उन प्रजा ने भी हिन्दू धर्म को अपनाया। राजाओं ने हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित कीं; उनके सामन्तों और प्रजा ने उनका अनुकरण किया। वात चक्रेत के शिलालेख में हम देखते हैं कि ताम्रपुर के नये शासक ने, जो ईशानवर्मा का सामन्त था, शम्भु और हरि की सम्मिलित मूर्ति की स्थापना की थी। शिव और विष्णु की सम्मिलित प्रतिमा चम्पा में भी बहुत लोक-प्रिय थी।

आश्रमों की स्थापना—ईशानवर्मा के राजत्व-काल में एक नई संस्था का प्रादुर्भाव होने लगा था। यह आश्रमों की स्थापना थी, जो बौद्ध विहारों से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होती है। ये हिन्दू मठ थे जो हिन्दू फ़क़ीरों के उपयोग के लिए बनाये गये थे। इस तरह आर्य विद्यादेव ने, जिसने अनेकों वैदिक यज्ञ किये थे, एक आश्रम की स्थापना की, जहाँ वह योगाभ्यास के लिए जा सका। एक और बड़े मुनि ने एक आश्रम विष्णु भगवान् की भेंट किया।

आँग पू शिलालेख से राजा की वीरता प्रदर्शित होती है। वह शेषनाग की भाँति पृथिवी के भार का वहन करता है। इस शिलालेख में हर और अच्युत (विष्णु) और उनकी पत्नियों पार्वती और श्री का साथ साथ आह्वान किया गया है।

महामुनि ईशानदत्त—इसी बीच कम्बोडिया में एक बड़ा कृतविद्य मुनि रहता था,—

"यः प्रतीततपःशीलवृत्तश्रुतपरो मुनिः।
ईशानदत्त इत्याख्याख्यातः ख्यातकुलोद्गतः॥"

जिसका नाम ईशानदत्त था और जिसने एक विख्यात कुल में जन्म लिया था। वह अपने तप और शील के लिए प्रसिद्ध था। इसी मुनि ने अपने माता-पिता के पुण्य-लाभ के लिए शङ्कर और अच्युत की संमिलित मूर्ति की स्थापना की थी। सन् ६२७ का हमें ऐसा ही एक और दृष्टान्त उपलब्ध है जिसमें शिव और विष्णु को एक ही मूर्ति में प्रदर्शित किया गया था। किन्तु यहाँ महामुनि को इतने ही से सन्तोष न हुआ। उसने विष्णु और ईशान चण्डेश्वर का एक लिङ्ग भी बनवाया। भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में यह एक अपूर्व बात है। एक लिङ्ग में दो देवताओं के एकीकरण का यह एक ही उदाहरण है। मुनि ने विष्णु के अर्पण एक आश्रम भी किया और बहुत से दास, क्षेत्र, गायें आदि दान किये।

आढ्यपुर का शिलालेख—इसी काल में एक और रोचक शिलालेख रक्खा जा सकता है। यह आढ्यपुर का शिलालेख है जिसका प्रथमार्द्ध और द्वितीयार्द्ध का कुछ भाग एक ही हाथ से लिखा गया था। इन दो भागों के मध्य में दो पंक्तियां ख्मेर भाषा में हैं। पूर्वार्ध का समय सन् ६२६ है। वात-चक्रेत के शिलालेख का समय ६२७ है। अतः प्रस्तुत शिलालेख

का पहला भाग ईशानवर्मा के राजत्व काल में रक्खा जा सकता है। द्वितीयार्ध में जयवर्मा का उल्लेख है अतएव वह जयवर्मा के समय में रक्खा जाना चाहिए।

आचार्य विद्याविनय—इसी समय आचार्य विद्याविनय नामी एक और विद्वान् विद्यमान था जिसके विषय में हम उपर्युक्त शिलालेख से ज्ञान प्राप्त करते है। वह हिन्दू शास्त्रों का ज्ञाता और शैव सम्प्रदाय का अनुयायी था। उसने 'सर्वलोकैकनाथ' शिवलिङ्ग का संस्कार और प्रतिष्ठापन किया। अपनी पत्नी के साथ आचार्य ने लिङ्ग को अपना सर्वस्व समर्पित किया। उक्त शिला-लेख में खमेर भाषा की पंक्तियों से हमें आचार्य के विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त होता है। उसने एक रुद्राश्रम बनवाया। रुद्राश्रम विविध प्रकार के वृक्षों से भरा हुआ था और उसके मध्य में एक मन्दिर था।

राजमन्त्री सिंहवीर—ईशानवर्मा का सिंहवीर नामी एक मंत्री था, जो महेन्द्रवर्मा के अधीन भी साचिव्य कर चुका था। यह मन्त्री बड़ा विद्वान् था और उससे अन्य लोग कविता-रस का पान करते थे। अपने राजा की भाँति वह भी अपनी दानशीलता के लिये प्रसिद्ध था। उसने हर निकामेश्वर की मूर्तियां बनवाईं। जब उसने श्रद्धापूर्वक इन मूर्तियों को बनवाया, उसने ख़ूब दक्षिणा दी।

——:o:——

भववर्मा द्वितीय ।

आढ्यपुर के शिलालेख में जो कम्बोडिया के प्रारम्भिक राजाओं की सूची दी गई है उसमें ईशानवर्मा के बाद जयवर्मा का नाम है जिसके यहाँ ईशानवर्मा का मन्त्रिपुत्र सिंहदत्त राजवैद्य था। फ्रेंच विद्वान् कडूज ने फ्नोम पेन्ह के शिलालेख से यह परिणाम निकाला है कि इन दोनों के बीच भववर्मा नाम का एक और राजा था। सम्भवतः, चूँकि आढ्यपुर के शिलालेख का सीधा सम्बन्ध एक ब्राह्मण-परिवार की वंशावली से है जिसके कई पुरुष मन्त्री रह चुके थे और जिन राजाओं के यहाँ वे मन्त्री थे उनका उल्लेख केवल प्रसंगवश किया गया है, यहाँ इस द्वितीय भववर्मा की चर्चा अनावश्यक समझी गई होगी; इस ब्राह्मण-परिवार में से कोई उसका मन्त्री न रहा होगा। इसके अतिरिक्त चूँकि ईशानवर्मा का अन्तिम उल्लिखित समय सन् ६२७. (वात चक्रेत) और जयवर्मा का आद्यतम समय सन् ६६४ (वात प्रे विअर शिलालेख) है, इन दोनों के मध्य में द्वितीय भववर्मा के लिए काफ़ी अवकाश है।

उक्त शिलालेख, जो फ्नोम पेन्ह के पब्लिक वर्क्स आफ़िस के एक भाण्डार में उपलब्ध हुआ था, अपनी अशुद्ध एवं अशिष्ट संस्कृत के लिए उल्लेखनीय है। इस बात में वह चम्पा के ह्रास काल के शिलालेखों से मिलता जुलता है।

भववर्मा ने देवी चतुर्भुजा की स्थापना की। वह अपनी तपस्या के लिए प्रसिद्ध बतलाया गया है।

जयवर्मा द्वितीय।

भववर्मा द्वितीय के बाद जयवर्मा द्वितीय सिंहासन पर बैठा। इस राजा के संवत्सर-युक्त शिला-लेख उपलब्ध हैं। इनमें से एक वात-प्रे विअर में मिला है, जिस पर शक संवत् ५८६ (सन् ६६४ ई०) उल्लिखित है—

"रसवसुविषयाणां सन्निपातेन लब्धे शकपतिसमयाब्दे।"

इस शिलालेख में जयवर्मा के शौर्य और उसकी सम्पदा की स्थिरता का उल्लेख है, वह दूरदर्शी और प्रजा-पालन में साक्षात् इन्द्र था—

"जितमूर्जितशौर्य्येण राज्ञा श्रीजयवर्म्मणा।
चञ्चलापि सती यत्र स्थिरा लक्ष्मी... ॥
भूयिष्ठदृष्टिर्य्यो जगद्रक्षणदाक्षिणः.......... ।
साक्षात् सहस्राक्ष इति.......... ।"

बौद्ध मत का प्रचार—यह कम्बोडिया का प्रथम शिलालेख है जिसमें बौद्ध धर्म का जिक्र किया गया है। इसके अतिरिक्त आरम्भ में किसी हिन्दू देवता की स्तुति नहीं है। यह सब इस बात का प्रबल प्रमाण है कि सातवीं शताब्दी में बौद्ध मत का अच्छा प्रचार हो चला था।

कुलक्रमागत अधिकार—जयवर्मा के राज्य-काल में उसके राज्य में दो श्रेष्ठ भिक्षु थे। ये सहोदर भाई थे। वे

सच्चरित्रता, कृतविद्यता, शम, सहनशीलता, दया, संयम और बुद्धि से युक्त थे—"शीलश्रुतशमक्षान्तिदयासंयमधीनिधी"। उनके नाम रत्नभानु और रत्नसिंह थे। उनकी भानजी का एक लड़का था, जिसका नाम शुभकीर्ति था और जो शुभ गुणों से युक्त था। कुल-परम्परा और राजा की आज्ञा के अनुसार इसी को उनका पुण्य और सर्वस्व सौंप दिया गया था; राजा की आज्ञा थी कि कोई उसका अपहरण न करे,—"स्वकुलक्रम-सन्तत्या भूपतेः शासनेन च तस्मिन् संन्यस्यते सर्व्वं गुरुभिः पुण्य.........।"

यहाँ हम देखते हैं कि कम्बोडिया की प्रजा में कुलक्रमागत उत्तराधिकार के भारतीय विधान का अनुसरण किया जाता था। नाना या मामा की सम्पत्ति के अधिकारी नाती या भानजे हों, यह प्रथा यहाँ—विशेष करके दक्षिण भारतके द्राविड़ो में—अभी तक प्रचलित है। इस अधिकार को राजा ने स्वयं अपने 'शासन'से प्रामाणिक ठहराया। यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि यद्यपि जयवर्मा हिन्दू राजा था वह बौद्धों को कोई कष्ट नहीं पहुँचाता था और अवसर मिलने पर उनकी कुलक्रमागत सम्पत्ति को आत्मसात् नहीं करना चाहता था; कालिदास के दुष्यन्त की भाँति वह प्रजा के दुःख से दुःखी होना जानता था।

दूसरा शिलालेख आढ्यपुर (आँग चुमनीक) का है जिसमें शक संवत् ५८६ (सन् ६६७) अंकित है। इसमें मंत्रि-कुल के प्रसंग में राजवंश की राज-परम्परा इस प्रकार सुरक्षित है—"ब्रह्मदत्त और ब्रह्मसिंह दो सहोदर भाई राजा

रुद्रवर्मा के वैद्य थे। उनके धर्मदेव और सिंहदेव दो भानजे थे जो भववर्मा और महेन्द्रवर्मा के राजत्व-काल में मंत्रिपद को सुशोभित कर चुके थे। सिंहदेव को महेन्द्रवर्मा ने राजदूत की हैसियत से चम्पा को भेजा था। धर्मदेव का सिंहवीर नामी एक पुत्र था जो ईशानवर्मा का मंत्री और कवि था। अन्त में सिंहवीर के लड़के सिंहदत्त का उल्लेख है जो द्वितीय जयवर्मा का राज वैद्य और आढ्यपुर का गवर्नर था। इसी सिंहदत्त ने यहाँ शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। यह एक समुज्ज्वल दृष्टान्त है, जहाँ एक परिवार चार पीढियों तक राज-वंश के साचिव्य को ग्रहण किये रहा। भारत में भी ऐसे उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं।"

राजवैद्य सिंहदत्त शिव का उपासक था। वह न्यायशील शासक और निपुण वैद्य था। शक संवत् ५८६ में उसने श्री विजयेश्वर की प्रतिमा का प्रतिष्ठान किया और उस अवसर पर उसने बहुत सा दान दिया।

हरि-हर—इसी वर्ष के वात-प्रे चिअर के एक और शिलालेख में हरि-हर की संयुक्त प्रतिमा का उल्लेख है। जिसे किसी 'कवलितयमी' ने स्थापित किया था। इस प्रकार कम्बोडिया में ब्राह्मण धर्म उन्नत होने लगा। स्थानीय खमेर लोग हिन्दू धर्म को ग्रहण करने लगे। केवल राजा ही नहीं, किन्तु उसके मंत्री, उसके वैद्य और साधारण जन मूर्तियों की स्थापना करने और मन्दिरों को दान देने लगे। कम्बोडिया के लोग भारतीय संस्कृति को भली भाँति अपनाने लगे।
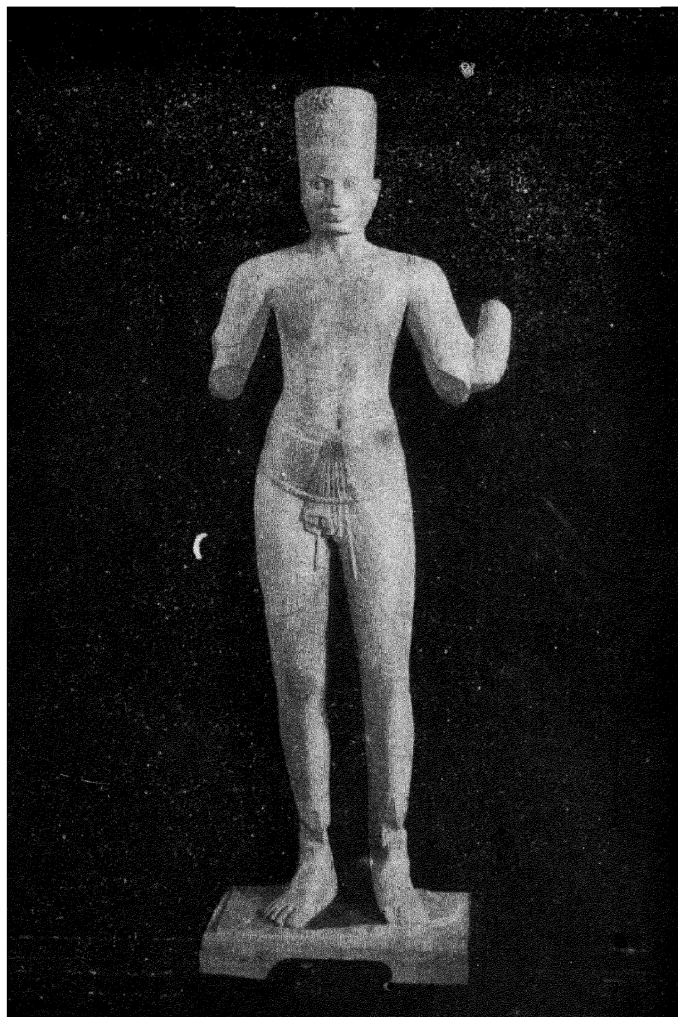
हरिहर ।

जयवर्मा का चरित्र—आढ्यपुर के एक और शिलालेख में जयवर्मा की अन्यातिशायिनी प्रभुता, उसके वंश की विमलता, उसकी वदान्यता और शिव के प्रति उसकी भक्ति की प्रगाढ़ता प्रदर्शित की गई हैं—

"...राजा श्री जयवर्म्मेति योऽत्यशेतान्यभूभुजः।
सोमवंशामलव्योमसोमस्सर्व्वकलान्वितः॥
तेनास्मिन् गिरिशेऽदायि कोशो हुतवहद्युतिः।
दत्तकोशसहस्रेण सर्व्वदिक्ख्यातकीर्त्तिना॥"

फिर उसके राजकर्मचारी आढ्यपुर के अधीश के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने नगरनिवासियों के साथ शिवोत्सव मनाया।

शैव सम्प्रदाय की उन्नति—शिवलिङ्ग की स्थापना के विषय में हम कई वार पीछे पढ़ चुके हैं, उसके संस्कार का भी एक आध वार जिक्र आ चुका है, शिलालेखों के मंगलाचरणों में शिव ही का प्राधान्य है, रुद्राणी के मन्दिर और रुद्राश्रम का भी पीछे उल्लेख हो चुका है। आढ्यपुर के सन् ६६७ के शिलालेख में शिव को "अनन्यसामान्यमहिमा,' कहा गया है। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि शैव-सम्प्रदाय ने कम्बोडिया में खूब उन्नति की और सातवीं शताब्दी में वह पराकाष्ठा को पहुँच गया। इस उत्कर्ष का एक प्रबल कारण यह है कि वह आरम्भ ही से राज-धर्म रहा। किन्तु राजधर्म होने से उसने असहिष्णुता का रूप नहीं धारण कर लिया। अन्य सम्प्रदाय और अन्य धर्म भी अपनी उन्नति करने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र रहे।

कम्बोडिया के चीनी विवरण

राज्य-विधान—ईशानवर्मा के शासन के सम्बन्ध में चीनी लेखकों के कतिपय आरम्भिक निर्देश ऐसे हैं जिनसे कम्बोडिया की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की जीवनावस्थाओं पर उल्लेखनीय प्रकाश पड़ता है। राजधानी में २०,००० घर थे। मध्य में एक विशाल भवन था जहाँ राजा का दरबार लगता था। तीन नगर थे जिनमें कई सहस्र घर थे। हर एक शहर का एक शासक होता था जिसकी उपाधि चम्पा क शासकों की जैसी थी। पांच प्रकार के उच्च राजकर्मचारी थे; जब वे राजा के सामने आते थे तो तीन वार सिंहासन की सीढ़ियों के सामने भूमि का स्पर्श करते थे। राजा उन्हें सीढ़ियों पर चढ़ने की आज्ञा देता था और तब वे कन्धों के ऊपर हाथ बाँधे घुटनों पर झुकते थे। फिर राज-काज की चर्चा के लिए वे राजा के चारों ओर घेरा बाँधे अपना अपना आसन ग्रहण करते थे। जब राज-सभा का विसर्जन होता था, वे फिर अपने घुटनों पर झुकते थे और तब सभा-भवन से विदा होते थे। सिंहासन-भवन के द्वार पर एक सहस्र रक्षक कवच पहने और भाले लिये तैनात रहते थे।

जन साधारण का जीवन—पुरुषों का कद छोटा और रंग साँवला होता था; किन्तु रूपवती स्त्रियों का अभाव

न था। लोग अपने बालों को एक ग्रन्थि में बाँधते थे और कानों में बालियाँ पहनते थे। वे हृष्ट पुष्ट और स्वभाव से कर्मण्य होते थे। उनके घर और साज-सामान बहुत कुछ श्याम के जैसे थे। उनमें दाहिना हाथ पवित्र और बायाँ अपवित्र माना जाता था। वे हर रोज़ सुबह को स्नान करते थे और दांतों को साफ़ करने के लिए पेड़ों की डालियों से काम लेते थे। अपने धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने और प्रार्थनाओं का उच्चारण करने के बाद वे फिर स्नान करते थे। इसके पश्चात् वे भोजन करते थे। भोजन के बाद वे अपने दांतों को फिर साफ करते थे और एक बार फिर प्रार्थना करते थे। भोजन में वे बहुत सा मक्खन, मलाई, पीसी हुई खांड, चावल और बाजरे—जिसकी वे रोटी बनाते थे—का प्रयोग करते थे।

विवाह की रस्में—जब वे विवाह करते थे तो उपहार में दुलहिन के लिए केवल एक पोशाक भेजते थे। नियत तिथि पर मध्यस्थ दुलहिन के आगे आगे चलता था। वर-वधू के कुटुम्बी एक सप्ताह तक घर से बाहर नहीं निकलते थे। दिन रात दीपक जलते रहते थे। विवाहोत्सव समाप्त हो जाने पर दुलहा ससुराल से अपना हिस्सा लेता था और अपने पृथक् घर में रहने के लिए वहाँ से विदा होता था। अपने रिश्तेदारों की मृत्यु पर वह फिर रही सही जायदाद का मालिक बनता था। अन्यथा सम्पत्ति पब्लिक कोश में चली जाती थी।

अन्त्येष्टि-विधान—अन्त्येष्टि विधान इस प्रकार था—एक सप्ताह तक बिना आहार और क्षौर के विलाप होता था। रिश्तेदार बौद्ध और ब्राह्मण पुरोहितों के साथ इकट्ठे होते थे और गाना बजाना करते हुए जलूस निकालते थे। लाश सुगन्धित लकड़ी की चिता पर जलाई जाती थी और उसका भस्मावशेष चाँदी या सोने के एक पात्र में रक्खा जाता था। यह पात्र एक बड़ी नदी के मध्य में फेंक दिया जाता था। निर्धन लोग रंग-बिरंगे मिट्टी के पक्के वर्तनों को इस काम में लाते थे। कभी कभी लाश किसी पर्वत के उत्संग में रख दी जाती थी, जहाँ उसे जंगली जानवर चट कर जाते थे।

धर्म आदि का वर्णन—दक्षिण में बड़े बड़े दल-दल और पुञ्ज थे। चावल, 'राइ' (एक प्रकार का अन्न) और बाजरे की पैदायश होती थी। षष्ठी के दिन घातक वायु चलता थी। उसके अनिष्टकारी प्रभाव के निवारण के लिए नगर के पश्चिमी फाटक पर सुअर, सफ़ेद भेड़ आदि की बलि दी जाती थी। अन्यथा अन्न का पकना असम्भव और पशुओं का मरना अवश्यंभावी था। राजधानी के निकट आते समय लिंग-किया-पो-फो नामी पर्वत मिलता था। उसकी चोटी पर एक मन्दिर था जिसकी रक्षा नित्य ५,००० सैनिक करते थे। नगर के पूर्व में फो-टो-लि नामी रूह का एक और मन्दिर था जिसे मनुष्यों की बलि दी जाती थी। प्रति वर्ष मनुष्य की बलि देने के लिए राजा स्वयं रात्रि के समय वहाँ जाता था। इसकी रक्षा एक सहस्र सैनिकों से होती थी। ऐसे भी लोग विद्यमान

थे जो रूहों की आराधना करते थे। बहुत से ऐसे थे जो बौद्ध धर्म का अनुसरण करते थे और कई हिन्दू धर्म को मानते थे। जिन घरों में पथिक ठहरते थे वहाँ बौद्धों और हिन्दुओं की मूर्तियां थीं।

कम्बोडिया में सभी घरों के मुख पूर्व की ओर होते थे। बैठते समय भी लोग उसी ओर मुख करते थे। अतिथियों को सुपारी, कपूर और अन्य सुगन्धित पदार्थ देने की प्रथा प्रचलित थी। खुलमखुल्ला शराब पीने का रिवाज न था। किन्तु घर में बड़ों के उपस्थित न रहने पर पति-पत्नी मद्य-पान करते थे। युद्ध के लिए वहाँ पाँच सहस्र शिक्षित हाथी विद्यमान थे। उनमें जो उत्तम थे उन्हें मांस खाने को दिया जाता था।

——:o:——

जावा का आधिपत्य।

जलमय चेन-ला—सन् ७०५—७०६ में चीनी लेखकों के अनुसार चेन-ला (कम्बोडिया) पर भारी विपत्ति आई और वह दो राज्यों में विभक्त होगया। दो ही क्यों, उसके अनेक विभाग हुए होंगे। मालूम होता है चीन वाले पश्चिमी प्रान्तों के विषय में चुप कर गये और उन्होंने केवल उन प्रदेशों के विस्तार का उल्लेख किया है जिन्हें वे जलमय चेन-ला—और स्थलमय चेन-ला— कहते हैं। जलमय चेन-ला—वास्तविक चेन-ला—दक्षिणी भाग का नाम था जिसकी निचली सीमा समुद्र को स्पर्श करती थी, जिसके बीच बीच में झील, बावड़ियाँ और दलदल बिखरे पड़े थे, जिसका फैलाव ८०० ली (लगभग ८० लीग) था और जिसकी राजधानी फो-लो-ती-प नाम की एक नगरी थी।

स्थलमय चेन-ला—स्थलमय चेन-ला उत्तरी भाग का नाम था। इस प्रान्त की भूमि ऊँची थी, अतएव उसमें बाढ़ें कम आती थीं। भूमि की अवस्थिति में बहुविधता और विचित्रता थी और वह पर्वतों और ऊँची अधित्यकाओं से आकीर्ण थी। उसका विस्तार ७०० ली (७० लीग) था। ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि उसकी राजधानी कहाँ थी;

सम्भव है मेकांग के बाएँ तट पर शम्भुपुर (आधुनिक साम्बोर) में रही हो।

चीनियों के कथनानुसार इन दो राज्यों ने ७१३ और ७८० के दर्मियान दो विरल प्रतिनिधि-वर्ग भेजे और ७२२ में उत्तरी चेन-ला से पर्वतों को लाँघती हुई यहाँ से एक सेना टोंकिन को गई।

आठवीं शताब्दी के शिलालेख—आठवीं शताब्दी के शिलालेख, जो अब तक वस्तुतः ज्ञात हुए हैं, क्रम से निम्न लिखित संवत्सरों में विभक्त हैं—सन् ७१६; ७२४, ७२६, ७८१, ७९१ और ८०० । इनमें से एक बौद्ध शिलालेख को छोड़ कर अन्य सभी ब्राह्मणों की कृतियों से सम्बन्ध रखते हैं। तत्कालीन स्मारक राजकीय नहीं हैं; राजकर्मचारियों और सामान्य राजन्यवर्ग ने उनकी स्थापना की थी।

प्रवासी अगस्त्य—किन्तु अन्य उत्तरकालीन शिलालेख आठवीं शताब्दी के अनेक राजकुमारों और राजकुमारियों का उल्लेख करते हैं । इनसे मालूम होता है कि इस काल में ब्राह्मण भारतवर्ष से कम्बोडिया को जाते रहे; उदाहरण के लिए वेद और वेदाङ्ग के ज्ञाता प्रवासी अगस्त्य को लीजिए।

"अथ द्विजोऽगस्त्य इति प्रतीतो

यो वेदवेदांगविदार्य्यदेशे

...”

पुष्कराक्ष का राजवंश—हम यह भी मालूम करते हैं कि अनिन्दितपुर-निवासी प्राचीन राज-वंश के किसी एक पुष्कराक्ष ने शम्भुपुर-का राज्य प्राप्त किया था—

"आसीदनिन्दितपुरेश्वरवंशजात:
श्रीपुष्कराक्ष इति शम्भुपुराप्तराज्य: ।"

पुष्कराक्ष के अनेक वंशधरों ने राज्य किया- शम्भुपुर में या प्राचीन राजधानी व्याधपुर में, निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता—और सब ही ने वर्मा की उपाधि धारण की।

किन्तु पर्याप्त ज्ञान और सम्मिलित राज्य के आधिपत्य के अभाव से कम्बोडिया की राजपरम्परा की सूची में इन क्षुद्र राजाओं का समावेश करना निरर्थक है। स्थानीय शिलालेखों और चीनी लेखकों से आठवीं शताब्दी के इतिहास को कोई सहायता नहीं मिलती, उस पर जो कुछ भी प्रकाश पड़ता है वह एक दूरवर्ती और पृथक् उद्गम से आता है।

अन्य देशों में भारतीय उपनिवेशक—अश्रान्त भारतीय उपनिवेशकों के सभी दलों ने, जो औगस्टस और सिकन्दर महान् के समय सुदूरवर्ती पूर्व की सम्पत्ति की कठिन गवेषणा के लिए उद्योग-क्षेत्र में कूद पड़े थे, केवल कम्बोडिया और चम्पा में ही राज्यों की स्थापना नहीं की। बीरमानी, मलाका, सुमात्रा, बोर्नियो, जावा और उससे भी परे, अनेक देशों में उन्होंने राज-सत्ताएं कायम कीं। सुमात्रा की पूर्वी सीमा पर पालम्बांग देश एक शक्तिशाली मलाया-

कुमार अपनी अदूरदर्शितापूर्ण अभिलाषा को अन्य लोगों के सम्मुख दोहराता फिरा, यहाँ तक कि बात महाराज के कानों तक पहुँच गई। उसके दण्ड की उपेक्षा की गई। आखिर महाराज ने, जो उस समय प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हो चुका था और उत्कट उत्साह और अनुभव से युक्त था अपने वज़ीर को आज्ञा दी कि एक हजार जङ्गी जहाज तैयार करे। उसने कहा जब मैंने साम्राज्य के द्वीपों की यात्रा की थी तभी से तैयारियाँ हो रक्खी हैं। वह सीधे खमेर-भूमि को रवाना हुआ किन्तु जब तक जहाजी बेड़ा मेकाँग में न पहुँचा और महाराज के योधा ज़मीन पर न उतरे वहाँ के राजा को इस भय का पता तक न चला। राजा और उसका महल जावा की सेना के हाथ में आ गया। महाराज ने इस युवक राजा को उसकी बातों की क्षुद्रता के लिए धिक्कारते हुए कहा—'मैं तुम्हारे राज्य को - जिस पर इस धृष्टता का उत्तरदायित्व नहीं है—छोड़े देता हूँ, किन्तु तुम्हें तुम्हारी करनी का फल देने के लिए मैं विवश हूँ, जिस गढ़े में तुम मुझे ढकेलना चाहते थे उसी में तुम्हें फेंकने के लिए लाचार हूँ।' यह कह कर उसने उसका सिर कटवा डाला, और फिर खमेर वज़ीर की प्रशंसा की और उसे मृत राजा के स्थान पर योग्यतम पुरुष का प्रतिष्ठापन करने का काम सौंपा। अन्त में वह विना किसी लूट मार के अपने राज्य को वापिस चला गया। अविनीत राजा के सिर को छोड़ कर वह अपने साथ और कुछ नहीं ले गया, जिसे उसने अपने महल में फलक पर एक ऐसे स्थान पर लटका दिया जहाँ सब की दृष्टि उस पर पड़ सके। इस प्रकार उसकी प्रजा में कोई इस

बात को नहीं भूला कि उसने धृष्टता का कैसा दण्ड दिया था। फिर आज्ञा हुई कि सिर को धोकर उस पर लेपन किया जाय और उसे एक पात्र में रखकर खमेरों के नये राजा के पास भेज दिया जाय। साथ ही एक पत्र भी भेजा गया जिसमें इस कृत्ति की शिक्षा का महत्त्व समझाया गया। जब इस घटना का समाचार भारतवर्ष और चीन के राजाओं तक पहुँचा तो जावा का महाराज बहुत प्रख्यात हो गया। तब से खमेर-भूमि के राजा प्रतिदिन प्रातःकाल उठ कर जावा की ओर सिर करके ज़मीन पर चित्त पड़कर आदर-भाव से महाराज की उपासना करते थे।"

राजधानी के विषय में दिया हुआ विवरण विचारणीय है। वह नदी के तट पर स्थित थी और समुद्र से एक दिन के अन्तर पर थी, पहली बात सम्यक्तया व्याधपुर का निर्देश करती है और दूसरी भी सर्वथा इसी की संवादिनी है।

जावा आदि से आक्रमण—इतना कल्पना-रञ्जित और नाटकीय होने पर भी इतिहास को यह विवरण ग्रहण कर लेना चाहिए। क्योंकि सारी नवीं शताब्दी में हमें कम्बोडिया पर जावा के—भौतिक अथवा केवल नैतिक किन्तु प्रबल और दीर्घ—पूर्वकालीन आधिपत्य के अनेक चिन्ह अथवा परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं, यह आक्रमण, जिसका समय सन् ७०५ के लगभग माना जा सकता है, महाद्वीप पर मलाया और साउँड द्वीपों की अनिश्चित आक्रमण-परम्परा का आरम्भमात्र था। ७६५, ७६७ में जब कि टोंकिन में भी उपप्लव किया गया था;

७७४ में जब कि अत्यन्त काले और क्षीणकाय, भयावह और मनुष्य का आहार करनेवाले आदमी जहाज़ों से निकले थे और उन्होंने चम्पा के तटस्थ प्रदेशों को लूटा पाटा था; और ७८७ में भी ऐसे उपद्रव हुए थे ।

धार्मिक सहिष्णुता और बहुविधता— तत्कालीन शिलालेख बड़ी धार्मिक सहिष्णुता के साथ शिव और बुद्ध दोनों ही की आराधना करते हैं । मन्दिर या तो ब्राह्मणों के हैं या बौद्धों के। यहाँ भी दोनों ही धर्म विद्यमान थे और कम्बोडिया की भाँति यहाँ भी महायान बौद्ध मत का प्रचार था। यह उन अन्ध-धारणाओं से आरञ्जित होचला था जिनकी लङ्का की धर्मनिष्ठा में उपेक्षा की गई है; वैष्णव और शैव सिद्धान्तों का भी उसमें समावेश हो चुका था। बौद्ध देवी तारा के प्रतिष्ठापन के लिए मन्दिरों का निर्माण हुआ, जहाँ उसे अवलोकितेश्वर के साहचर्य में रक्खा गया ।

जावा के ये मन्दिर, जो—कम से कम आरम्भ में—हिन्दू धर्म से सम्बन्ध रखते थे, अन्ततः उस धार्मिक बहुविधता को प्रदर्शित करते हैं जिससे सिद्धान्तों में भ्रान्ति आजाती है। यही बात हमें कम्बोडिया में भी दृष्टिगोचर होती है ।

कम्बोडिया और चम्पा की भाँति यहाँ भी ये मन्दिर एक प्रकार के समाधि-भवन जैसे बन जाते हैं, जहाँ राजाओं, राजकुमारों और राजन्य-वर्ग के भस्मावशेष रक्खे जाते थे। इसके अतिरिक्त सर्वत्र अभिशापों के निर्देश से देवस्वापहरण और इन भवनों और धार्मिक प्रतिग्रहों के धर्षण की आशङ्का प्रकट की गई है ।
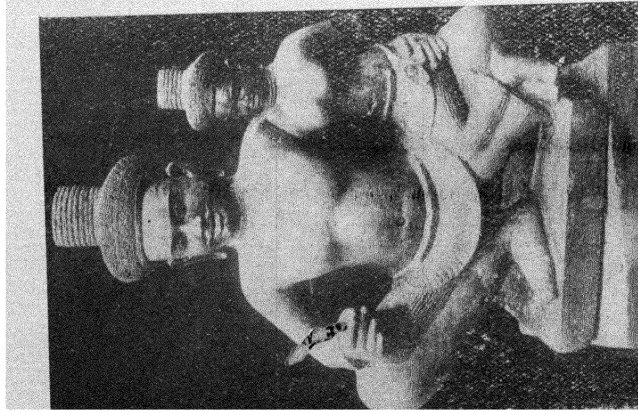
शिव श्रौर उमा ।

मन्दिरों के रक्षक ।

धार्मिक वास्तुकला—भारतीयता के रङ्ग में रंगे हुए आदिम निवासियों से युक्त इन तीनों राज्यों में धार्मिक वास्तुकला का शनैः शनैः आत्मीयता के एक निराले ढँग से आरम्भ और विकास होता है. जिसमें दूरवर्ती भारतीय आदर्श की केवल छायामात्र प्रदर्शित होती है जावा के भव्य स्मारकों का निर्माण-कार्य आठवीं शताब्दी में आरम्भ होता है और तभी से वह अन्य दो साम्राज्यों की वास्तुकला को प्रभावान्वित करता है।

क्रूशाकार चतुर्मुखी पुण्यस्थल-परम्परा, जो गुम्बदों को अलंकृत करती है, जो परिधियों और अनेकों देवालयों, अट्टालिकाओं और स्तूपों को घेरे हुई है, पहले पहल जावा के ही जलवायु में पनपती हुई प्रतीत होती है।

यदि भारतीय 'औलिम्पस' पौराणिक पर्वत मेरु और कैलास के प्रतिरूप, ऊँचे पवित्र पिरामिड—जिनके शिखर पर देवता वास करते हैं, साधनों के अनुसार कहीं सर्वत्र खड़े किये गये थे तो जावा के पर्वत बोरोबुदूर में जो नौ आवासों में विभक्त और विन्यस्त है, और जिसके आधार पर ही यह प्रणाली महान् विकास को प्राप्त हुई। जावा की निर्माण-पद्धति कम्बोडिया की निर्माण-परिपाटी की सूचक है; उदाहरण के लिए गुम्बदाकार छत्ते दन्तकों पर स्थित हैं। किन्तु कम्बोडिया में जिन बृहदाकार शिलाओं का उपयोग किया गया है उनकी अपेक्षा जावा के आग्नेयगिरि-पाषाणों का आकार बहुत छोटा है।

मन्दिरों के रक्षक, दारुण, भयावह जन्तुओं की विशाल प्रतिमाएँ—हमारे लिए बच्चों का खेल जैसी—जावा में ही पहले

पहल स्थापित होती हैं । यहीं लाक्षणिक एवं अलङ्कार-भूत नाग भी, जो अभी अति भीत चकित जैसा प्रतीत होता है, प्रथम वार अस्तित्व में आता है, कम्बोडिया में उसे प्रायः अनन्त रूप से प्रचुरीभूत और विकसित किया जाता है।

विशेषतया जावा में एक सम्पन्न और सुचारु कला की पच्चीकारी की विस्तीर्ण सजावट बुद्ध के अनेक जन्मों के दृश्यों को प्रदर्शित करती है, यही इस प्रकार की उन कृतियों का आदर्श बनती है जिनका निर्माण आगे खमेर-साम्राज्य में होगा।

——:o:——

कम्बुज-कला

कम्बुज कला का श्रीगणेश—जावा के मन्दिरों के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त विवेचना की गई है वह कम्बोडिया की महती कला के अधिक विस्तृत अनुशीलन का उपक्रममात्र है। यहाँ उसका श्रीगणेश नवीं शताब्दी से होता है। उसके तक्षण-कौशल में आप अवरता पायेंगे किन्तु सामान्य रचना-विन्यास में वह बहुत बढ़ी चढ़ी, अधिक व्युत्पन्न और सम्यक् अवगाहन की हुई होगी; समष्टि रूप से अप्रतिम भव्यता और प्रपञ्च की दृष्टि से प्रशंसनीय निसर्गाभास से युक्त स्मारकों में उसका विकास होगा। जावा में आप कोई नमूना ऐसा न पावेंगे जो इनकी समता कर सके।

नगर-धाम का निर्माता—एक स्थानीय अनुश्रुति बतलाती है कि अँगकोर थाम (नगर-धाम) के निर्माता जावा से आये थे। सम्भवतः इसमें सच्चाई का कुछ आधार है। शिल्पी—नगर-धाम के नहीं जो दो या तीन पीढ़ी पीछे का है, किन्तु आरम्भिक विशाल स्मारकों का निर्माण करने वाले शिल्पी उक्त द्वीप से आये होंगे। कम से कम इतना हम जानते हैं कि तत्कालीन महान् प्रभविष्णु निर्माता जावा से आया था; यह वह राजकीय कामचारी था जिसने कम्बोडिया को भीमकाय निर्माणों के पथ पर संलग्न किया था; जिसने शायद

अपनी इस दीक्षा से, खमेरों की बारह या चौदह पीढ़ियों में पारिश्रमशीलता का मंत्र फूंका था।

वह जावा में अपने बाल्य-काल अथवा यौवन की उषा में रहा होगा; क्योंकि कम्बोडिया को आने और सिंहासनाधिरूढ़ होने के समय से वह ६७ वर्ष और जीवित रहा है। इतने दीर्घकाल की शक्तिमत्ता ने उसे उस महती वास्तुकला के सभी आवश्यक नियमों को काम में लाने का अवसर दिया जिसने आगे तीन या चार शताब्दियों तक अपना अस्तित्व बनाये रक्खा।

मृत राजाओं को देवत्व-प्रदान—जिस तत्त्व के आधार पर उन विशाल धार्मिक भवनों का निर्माण हुआ था जो कभी कभी बौद्ध या वैष्णव होते थे किन्तु जो अधिकतर शैव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे उसी की प्रेरणा से अतीत युग की अल्प-परिमाण अट्टालिकाएँ बन चुकी थीं। प्रत्येक राजा. जिसका शासनकाल पर्याप्त लम्बा होता था, एक मन्दिर बनवाता था जिसे वह अपने इष्ट देव या देवों की भेंट करता था। पुण्य-स्थलों के धारण और पुजारियों के निर्वाह के लिए वह उसे उचित प्रतिग्रह से सम्पन्न कर देता था। वह जानता था कि उसकी मृत्यु और अन्त्येष्टि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार के बाद उसके भस्मावशेष वहाँ एकत्रित किये जायेंगे और लोग उनकी उपासना करेंगे; उसकी मूर्ति को वहाँ देवत्व प्रदान किया जावेगा; वह अपने अभीष्ट देव के सायुज्य को प्राप्त करेगा।

ऐसे व्यक्तिगत पुण्य-कर्म में जो उसे उसके देवत्व और अनन्त भावी कल्याण की प्रतीति दिलाता था, उसे प्रजा के प्रयास की सातिशयता और जातीय सम्पत्ति के क्षय की परवा ही क्या हो सकती थी!

केवल महाराजाधिराज ही नहीं किन्तु राजा, राजन्यवर्ग, कुलवधुएँ, यहाँ तक कि साधारण लोगों के जातीय वर्ग भी अपने अपने साधनों के अनुसार इस प्रकार के पुण्य-कर्मों का सम्पादन करने लगे।

यदि इन मन्दिरों को लोग स्वीय पुण्य की प्राप्ति के लिए बनाते थे तो ऐसी दशा में स्वभावतः उनकी अवधि का अस्थायित्व अनिवार्य था। उसकी देख रेख और सम्हाल की कोई उचित व्यववस्था न होती थी; कभी कभी उन्हें बिल्कुल छोड़ दिया जाता था। उष्मा और आर्द्रता की प्रचुरता में विनाशकारी जल-वायु के मन्द-प्रसर्पी उपप्लव और प्रबल उद्भिज्जाल से अभिभूत होकर वे जीर्ण शीर्ण हो जाते थे। निरन्तर उनके पुनरुद्धार की आवश्कता बनी रहती थी।

इस प्रकार वास्तु-कला की महत्तापूर्ण चार शताब्दियों में मनोज्ञ स्मारकों के पुष्पोपम प्रसार से अपने आपको आच्छन्न किये रहा। सब मिलाकर कोई पचास विशाल भवन और एक सहस्र छोटे छोटे मन्दिर होंगे जो आज सब के सब उजाड़ पड़े हैं।

आकस्मिक आविर्भाव और पतन—उच्छ्रित-प्रतिच्छायाओं के चित्रणों—जो आरम्भ ही से गहरे खुदे हुए

हैं—और अवसान के विरल किन्तु ललित प्रपञ्च की अधिक सादी रेखाओं में यदि कुछ प्रत्यक्ष भिन्नताएँ हैं तो इससे इस विश्रुत कला के प्रादुर्भाव, विकास और ह्रास की पृथक् कालावधि की समस्या उपस्थित नहीं होती। उसका आविर्भाव आकस्मिक था, उसका पतन भी आकस्मिक हुआ। उसमें परिवर्तन इतना कम है कि आरम्भ से अन्त तक उसके प्रपञ्च और उसकी पद्धति का एक साथ ही अनुशीलन किया जा सकता है।

निर्माण सामग्री—किसी देश के निर्माण उसकी निर्माण-सामग्री के स्वरूप पर निर्भर होते हैं। यहाँ यह सामग्री लकड़ी, ईंट, 'लाइमोनाइट' और वालुका-पत्थर के रूप में उपलब्ध थी।

लकड़ी—कम्बोडिया में सब प्रकार की लकड़ी प्रचुरता से पाई जाती है और देशी लोग सदा से ही उसका सदुपयोग जानते रहे हैं। किन्तु उष्मा, आर्द्रता और सहस्रों विनाशक कीटों ने शताब्दियों के प्रवाह में लकड़ी के उन विशाल मन्दिरों को पूर्णतया अन्तर्हित कर दिया है जो निःसन्देह पहली और आठवीं शताब्दी के भीतर बने होंगे।

नवीं शताब्दी में, जिसमें अब हम पहुँचने लगे हैं, लकड़ी का उपयोग परिमित होने लगता है। साधारण लोगों के घरों की छतें तृणादि से और प्रतिष्ठित जनों के घरों की खपरैलों से छाई जाती थीं; इन खपरैलों के अवशेष अभी तक पाये जाते हैं।

जहाँ कहीं, निर्माण की वास्तविक त्रुटि से, किन्हीं स्मारकों में लकड़ी की अथवा—उससे भी अधिक स्थायी पदार्थ—लोहे की कड़ियाँ काम में लाई गई, उनकी विगलनशीलता ने इन भवनों को विध्वंस की ओर शीघ्रतया अग्रसर किया ।

ईंट—भली भाँति पकाई हुई, सुन्दर, मज़बूत ईंटों का उपयोग निःसन्देह पाँचवीं शताब्दी से आरम्भ होता है । लाइमोनाइट के साथ वे अत्यन्त प्राचीन उत्सेधों के बनाने में जो इस समय ज्ञात है—इस्तेमाल की गई थीं । जिस महान् युग में हम पग रख रहे हैं उसमें भी ईंटों से काम लिया जाता रहा किन्तु अवर श्रेणी के निर्माणों के लिए । चिकनी मिट्टी के पतले आस्तरणों से वे दृढ़ की जाती थीं, जिनके अब प्रायः कोई चिन्ह नहीं मिलते ; उनकी मिलावट नष्ट हो चुकी है ।

लाइमोनाइट—'लाइमोनाइट' एक प्रकार की घनीभूत लोहमय, चिकनी मिट्टी है जिसे देशी लोग "भुने धान" कहते हैं और जो वहाँ बहुतायत से पाई जाती है ; किन्तु स्थूलता के कारण उसे—कभी अकेले, कभी वालुकापत्थर के साथ—बैठक के बृहदाकार कमरों की दीवारों, ऊंचे मन्दिरों की सोपान-परम्पराओं, खाइयों और पुनीत कासारों के मुखों और विशाल भवनों कीं नींवों को छोड़ कर अन्यत्र शायद ही काम में लाया गया हो । 'वर्माओं' के राजत्व-काल में, आरम्भ से ही, लाइमोनाइट को प्रचुरता से ईंटों के साथ उपयोग में लाया जाता रहा ।

वालुका-पत्थर—वालुका-पत्थर-साधारणतया धूसर (हल्का अथवा गहरा), कभी गुलाबी, असाधारणतया रक्त-

वर्ण—कम्बोडिया में अति बाहुल्य से पाया जाता है, जिसे वहाँ के निवासी "कर्दम-पाषाण" कहते हैं। यह पत्थर पाँचवीं छठी शताब्दी से उपयोग में आने लगा था, किन्तु केवल चौखटों, शहतीरों और द्वार-स्तम्भों के लिए। नवीं शताब्दी के आरम्भ से उसको प्रचुरता से काम में लाया जाने लगा, चौकोर शिलाओं के रूप में, जो इस प्रकार जोड़ी जाती थीं कि उनमें सीमेंट लेप या राल के कोई चिन्ह नहीं दिखाई देते थे; उनमें कोई धातु-बन्ध भी नहीं होते थे वालुका-पाषाण के उपयोग में विस्मयावह विकास वास्तुकला के इस महान् युग की प्रधान विशेषता है। शिल्पियों ने परम्परागत हस्तलाघव से इस पत्थर को तराशा और उस पर चित्रण किया, जिस प्रकार निःसन्देह उनके पूर्वज लकड़ी को तराशते और उस पर चित्रण करते थे।

किलेबंदी—भारतीययता के रङ्ग में रंगे हुए खमेर लोगों ने सदा ही ऐसे नगरों की रचना की, जिनके चारों ओर किलेबन्दी होती थी अथवा जो खाइयों और लकड़ी के मज़बूत तख़्तों से दृढ़ किये हुए मिट्टी के कृत्रिम टीलों से घिरे होते थ। इसीसे उनके वंशधर आज भी मन्दिरों की इन प्राचीन किले-बंदियों के अधिकांश को और उनके अवशेषों को "बाँटेई" कहते है जिसका अर्थ दुर्ग या किला है।

नवीं शताब्दी के आरम्भ से निवासों के निर्माण से पहले उनके पूर्व में विस्तीर्ण जलाशय बना दिये जाते थे; और उनके अति विस्तृत प्राचीर-बन्धों के भीतर साधारण लोगों का

झोपड़ियों के अतिरिक्त उद्यानों और प्राङ्गणों, पुस्तकालयों और विहारों, पुरोहितों और सन्त साधुओं की कुटियों और मन्दिरों आदि को स्थान मिलता था। यहाँ एक विशेष निवास-दुरित-नाशन के लिए एक एकान्त आश्रय-स्थान—सम्राट् और उसके राजपुरोहित की धर्म-चर्य्या के लिए सुरक्षित होता था।

जलाशय—देश में, जहाँ छः महीने वर्षा और छः महीने शुष्कता रहती है, जलाशयों की वृद्धि स्वाभाविक थी। प्रत्येक शिव-मन्दिर के सामने स्नान करने के लिए एक कुण्ड अवश्य ही होता था। सिंचाई के लिए और शायद मछलियों को पालने के लिए भी विस्तीर्ण तालाब खोदे जाते थे।

भीमकाय मन्दिरों का सहसा विकास—अन्ततः नवीं शताब्दी के आरम्भ से मन्दिर सहसा उस विकास को प्राप्त होते हैं, जिसका सातवीं शताब्दी के त्रेआँग प्रान्त में फ्नौम बेआँग और चिकरेंग प्रान्त में पू रौमचेआँग के पुराने निर्माणों जैसे पूर्ववर्ती निर्बल शालीन नमूनों से कुछ भी पूर्वाभास नहीं होता। ये मन्दिर बिना किसी संक्रांति के उन प्रभावशाली स्मारकों का रूप धारण करते हैं जो भव्यता, कल्पना की संगति और यथार्थता, अवयवों के सामञ्जस्य, और अलङ्करण की चारुता के लिए विख्यात हैं और जिनके अवशेष आज भी सबकी सराहना के विषय हो रहे है।

मन्दिरों की तीन श्रेणियाँ—ये मन्दिर तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। पहले वे जो सादे ढँग से ज़मीन पर बने हुए हैं और जिनमें परिखाएँ, एककेन्द्रीय कुञ्जमार्ग और विहार,

प्रवेश-पथ और अट्टालिकाएँ अथवा दिव्य भवन सम्मिलित हैं; कुछ वे हैं जो पिरामिड के रूप में एक के ऊपर दूसरे क्रमानुसारी प्राघाणों से युक्त हैं; तीसरी श्रेणी उन सबसे अधिक परिपूर्ण निर्माणों की है जिनके महान् पिरामिडों पर गैलरियाँ बनी हुई हैं और शिखर पर मुकुट रूप से अट्टालिकाएँ अथवा दिव्य-भवन विराज रहे हैं। ये मन्दिर प्रायः सदा ही पूर्व दिशा के सम्मुख बने हैं, उनका अग्रभाग पूर्व की ओर है। उनकी आयताकार परिधियाँ साधारणतया पूर्व-पश्चिम को आयत हैं जिनको पार करने के लिए पुल—कभी कभी बहुत ही सजे हुए पुल, बने हैं। केन्द्रस्थ दिव्य-भवन की वेदिका पर एक देवमूर्ति होती थी। उसके सामने का मन्दिर का हिस्सा पिछवाड़े के हिस्से से कहीं अधिक बड़ा है, जिससे भक्त लोग अपने इष्ट देव के सामने मण्डली बना कर बैठ सकें। उसकी दाहिनी ओर बाईं ओर की अपेक्षा अधिक स्थान है—कह नहीं सकते कि इस विषमता का उद्देश्य क्या था।

अट्टालिकाएँ—वक्राकार कूट से अलंकृत, देवमूर्ति के आश्रयस्थल, ईंट या पत्थर के—सादे अथवा आवास-युक्त—आरम्भिक घनाकार मठों के स्थान में ईंट या लाइमोनाइट की अट्टालिकाएँ बनने लगी थीं, जो अधिकतर वर्गाकार होती थीं और जिनके चारों ओर बीच बीच में चार द्वार होते थे। नवीं शताब्दी में उन नये निर्माणों का सूत्रपात होता है जिनका अतीत में कोई पूर्वाभास नहीं मिलता। द्वार और दिव्य-भवन क्रूशाकार रूप धारण करने लगते हैं। उनके ऊपर वर्तुलीकृत शङ्कु की आकृति के गुम्बद बनने लगते हैं। आरम्भ ही से ये

गुम्बद चार छद्मवेशिनी मूर्तियों—शिव की बृहदाकार प्रतिमाओं से सजाये जाते हैं। अन्तरिक्ष का आलोडन करनेवाली अट्टालिकाएँ उस समय पौराणिक पर्वत मेरु और कैलास का—जहाँ देवता वास करते हैं—स्मरण दिलाती हैं।

कुछ काल के बाद इस मौलिक और प्रबल सरणी के स्थान को तीन, पाँच, सात की संख्या में ऊर्ध्वक्रमानुसारी कूट-किरीट ग्रहण कर लेते हैं, जो शिखर की ओर परिक्षीण होते गये हैं।

पत्थर की गैलरियाँ—इन महत्ता-युक्त गुम्बदों के साथ साथ नवीं शताब्दी से मन्दिरों के एक आवश्यक अङ्ग—पत्थर की गैलरियों—का भी आविर्भाव होने लगता है। ये गैलरियां बारह तेरह फीट चौड़ी हैं। दन्तकों के पाँचवें संस्तर पर मिलनेवाली उनकी गुम्बद-सरणी इससे अधिक विस्तृत नहीं हो सकी है। बाहरी छत्त विस्तृत भङ्गुराकृति तक्षणों से युक्त है जो खपरैलों का स्मरण दिलाते हैं। उसका अपरिष्कृत भीतरी हिस्सा चित्रकारी की हुई लकड़ी से आच्छन्न था, जो आज प्रायः सम्पूर्णतया अन्तर्हित हो चली हैं। ये पत्थर की छत्तें लघु स्तम्भों के झरोखों से निर्भर अथवा निर्भिन्न दो दीवारों पर या एक ठोस दीवार और वर्गाकार सटे हुए खम्भों की एक पंक्ति पर स्थित थीं। अन्य गैलरियों में छोटे खम्भों की एक दूसरी पंक्ति एक अर्ध-गुम्बद को थामे हुए थी। इस प्रकार के निर्माणों का पूर्ण प्रभाव कभी कभी खम्भों की चार पंक्तियों से—जिन पर केन्द्रस्थ गुम्बद और दो पार्श्ववर्ती अर्ध-गुम्बद बने हुए थे—निष्पन्न किया गया था।

ये लम्बी और सँकरी गैलरियाँ द्विप-भवनों को जाती थीं; अथवा, आयताकार विन्यास में, वे उन प्राङ्गणों के चारों ओर विहारों का रूप धारण करती थीं जहाँ धर्म पुस्तकों और देवस्व को रखने के लिए दिव्यागार बने हुए थे।

पिरामिड—गुम्बद्मय गैलरियां और अट्टालिओं का यह संमिश्रण विशाल और सादे मन्दिरों को बनाता है और अनवस्थित क्रम से शुण्डाकृति स्मारकों के निर्माण में भी प्रविष्ट होता है।

कभी कभी प्राङ्गणों और दीवारों से घिरे हुए, ये शुण्डाकृति स्मारक (पिरामिड) चतुरस्र आधार पर स्थित हैं और तीन पाँच या सात बन्ध तक—जो उत्तरोत्तर प्रसार में कम होते जाते हैं—अन्तरिक्ष में चले गये हैं। सामने गुम्बद्-मय द्वार-प्रकोष्ठों पर सीढ़ियाँ लगी हुई हैं। शिखर पर पिरामिड एक मचान के रूप में अवच्छिन्न होता है। जिस पर एक या अनेकों अट्टालिकाएँ अथवा दिव्यागार बने हुए हैं।

नीचे से ऊपर को पिरामिड-बन्ध विस्तार में कम होते जाते हैं। द्वार-सोपान सँकरे होने लगते हैं और सीढ़ियों के सिरों पर सजावट के लिए जो मूर्तियाँ बनी हैं वे परिमाण में घट जाती हैं। इस प्रकार निसर्गाभास के नियम, जिनका यहाँ कुशलता से उपयोग किया गया है, स्मारक की ज़ाहिरा ऊँचाई का दृष्टि-भ्रम पैदा करते हैं।

अँगकोर वाट और बेयोन—पिरामिड की आकृति के सभी मन्दिरों में अँगकोर वाट और बेयोन सबसे अधिक
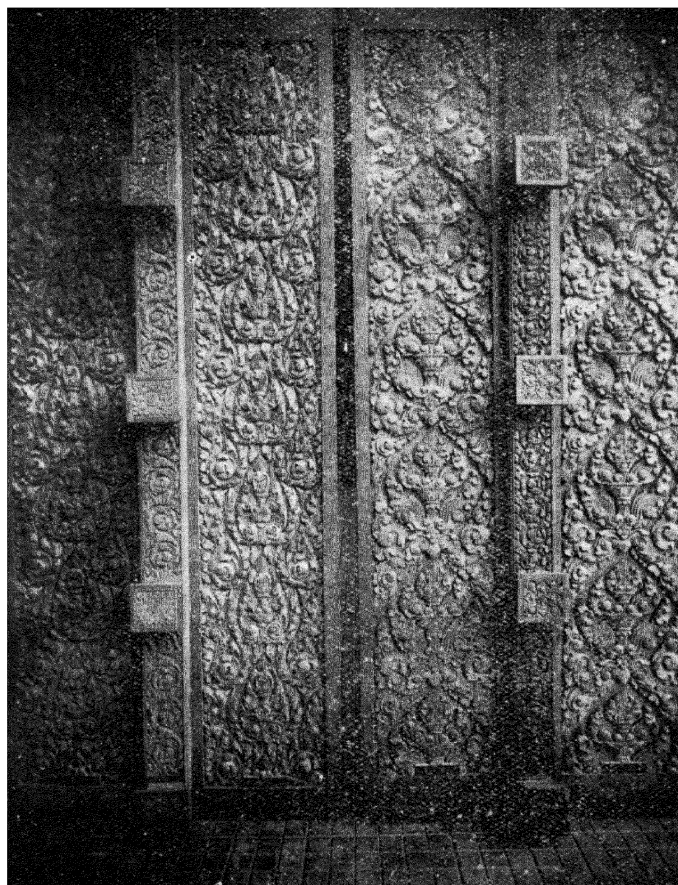
द्वारों की अलंक्रिया ।

विश्रुत हैं; खमेर वास्तुकला की सभी विशेषताओं का—आयोजना के समवाय और सामञ्जस्य, सामान्य निष्पत्ति की प्रगल्भ कल्पना, निसर्गाभास के सौन्दर्य, और इनसे भी बढ़कर सजावट की कमनीय और विस्मयावह सम्पन्नता का उनमें समावेश किया गया है। वास्तुकला की भाँति यह सजावट भी अनुभूति लाभ के लिए नहीं थी, उसका पुष्पोपम प्रसार सम्पन्न और आकस्मिक था, उसका आविर्भाव यहाँ विकास की पूर्णावस्था में हुआ था।

भवनों की सजावट—शिल्पिओं के अनुरूप सहकारी कलाविद भवनों की सामान्य निष्पत्ति से अपने तक्षणों का सामञ्जस्य करते हैं। सजावट के वर्गीकरण और विन्यास, अलंक्रिया की चारुता और श्लक्ष्णता, सुरुचि और उद्रेक में वे अपनी उत्कृष्टता प्रदर्शित करते हैं। सोने के एक सुन्दर आभरण की भाँति कम्बोडिया के भीमकाय मन्दिर पृथ्वी-गर्भ से उत्कीर्ण हो उठते हैं।

कमनीय कल्पनाएँ रेखागणित के चित्रों की सृष्टि करती हैं अथवा वनस्पति-जगत् और प्राणि-जगत्—'अराबेस्क' 'आकैंथस' पुष्प-पल्लवों, बेल, व्याघ्र, हाथियों, स्त्रियों, नर्तकियों, से अनुप्राणित होती हैं, जो अग्रभागों, चौपालबन्धों, चौखटों के शीर्षों पर निम्न-प्रतिच्छायाओं अथवा उच्छ्रित प्रतिच्छायाओं के रूप में बने हुए हैं। धार्मिक, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विषयों को प्रदर्शित करने वाली ये निम्न-प्रतिच्छायाएं प्रपञ्च की सावधानता और दृश्यों के निरीक्षण की यथार्थता

के लिए विख्यात हैं; किन्तु साथ ही उनमें सर्वथा सिद्धान्त-विषयक सावधानता के अभाव और मानव शरीर की वास्तविकता के अज्ञान को भी अंगीकार करना पड़ता है।

युवती रमणियां—परन्तु युवती रमणी—यौवननिर्भर स्त्री-शरीर, चेतोहारी सौन्दर्य—ही एक ऐसा विषय है जिसका अनन्त आवर्तन किया गया है। प्रशंसनीय ढँग से तक्षण किये हुए विविध केशों और मुकुटों से अलंकृत परियाँ, देवियाँ, नर्तकियाँ पुष्पमय महराबों में संग्रथित हैं। कहीं एक मात्र पतला चीर पहने वे नृत्य दिखाती हैं; कहीं पुष्पों या मक्षिका-व्यजनों को लिए सीधी खड़ी हैं। जघनस्थल से एड़ियों तक वे फूलों के नमूने के अधोवस्त्र से ढकी हुई हैं। शरीर का ऊपरी भाग—बस्ट—सदा नंगा मिलेगा। मानो वे मांसपिण्ड की विनाशधर्मिणी क्रीडाओं के शाश्वतिक काव्य को गा रही हैं।

गरुड़—सजावट के कुछ आवश्यक अङ्ग पौराणिक जगत् से लिये गये हैं। विष्णु का वाहन, नागशत्रु गरुड़ इसी सृष्टि का प्राणी है, जिसका धड़ स्त्री का, चँगुल चील के और सिर भी चील का—दुर्लभतया व्याघ्र का—है। इस अलौकिक वर्णसंकर जन्तु को आभरणों से खूब सजाया गया; माला और मेखला को भी अवकाश मिला। ये गरुड़ स्तम्भ-प्रमदाओं के रूप में सबसे अधिक प्राचीन मन्दिरों की दीवारों से सटा कर रक्खे गये थे।

नाग—एक और अत्यन्त व्यापक अङ्ग जिसे वास्तविक
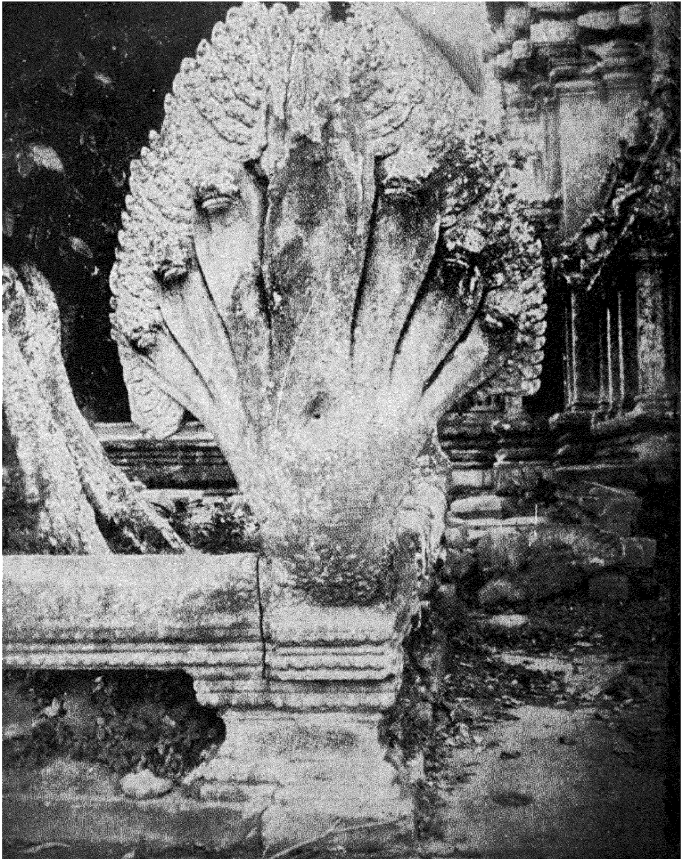
बहुशिरस्क नाग ।

राष्ट्रीय सृष्टि कहना चाहिए, नाग या बहुशिरस्क सर्प है। ईंट या पत्थरों के बने हुए छोटे घनाकार स्तम्भों पर टिका हुआ उसका लम्बा गोल शरीर कतिपय पुलों, अनेकों उच्छ्रित मार्गों, अनेकों कुञ्जगलियों में कंगूरों का काम देता है। एक विस्तृत साधारण विवर के ऊपर रक्खे हुए उसके भर्त्सनावह सिर नगरों और मन्दिरों की सीमाओं की रक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। इन सिरों की संख्या तीन, सात, नौ, कभी कभी ग्यारह तक है। नगरों और मन्दिरों के कतिपय उच्छ्रित मार्गों पर वे क्षीरसागर के विश्रुत मथन-दृश्य को प्रदर्शित करते हैं: भीमकाय मल्ल नाग को अपनी भुजाओं में रख कर घुटनों के बल थामे हुए हैं। ये मल्ल गम्भीराकृति महानुभाव देवताओं, कभी कभी भर्त्सनावह, भीषणाकृति राक्षसों को प्रदर्शित करते हैं। मल्लों की पंक्तियों के इन कंगूरों से महती सुन्दरता और उदात्त आकर्षण झलकता है।

सिंह—एक और अंग, अति प्रचुर किन्तु कम परितोषावह, सिंह है जो एशिया के इस प्रदेश में केवल एक काल्पनिक प्राणी है—वस्तुतः वहाँ नहीं पाया जाता। वास्तविक सिंहों से कुछ छोटे, सिंहो के ये प्रतिमाभास कहीं अपने शरीर के पिछले हिस्से पर बैठे हुए हैं, अगले पंजे ज़मीन पर टिके हुए हैं, पूँछ पीठ के ऊपर घूमी हुई है और उसका अग्रभाग गले के ऊपर विश्रान्ति ले रहा है; कहीं आधा उठा हुआ है। उसके दोनों अगले पंजों के नाख़ून बाहर निकले हुए और भर्त्सनावह हैं।

इस प्रकार के ये स्थूल वृषभ-कुक्कुर, जिनके मुँह खुले हुए और दांत भयावह हैं, सहस्रों की संख्या में सोपान-पंक्तियों, सीढ़ियों के सिरों, मन्दिरों के प्रघाणों के ऊपर रक्खे हुए हैं, जहाँ वे बुरे आशयवाले मनुष्यों को रोकते हुए प्रतीत होते हैं।

हाथी—हाथी के प्रदर्शन में, जिसे वे अपने पड़ोसी चामों की भाँति सदा से पालते रहे, कम्बोडिया-निवासी अधिक धन्य हैं। उसके सुन्दर नमूने—पृथक् स्थिति में—विद्यमान हैं जो कभी वास्तविक हाथियों से छोटे हैं, कभी अपनी नैसर्गिक महत्ता से युक्त हैं।

राजा महाराजाओं का यह वाहन देवताओं—विशेषकर इन्द्र—के सम्बन्ध से कल्पना के साँचे में ढाला गया है। फिर वह तीन सिर धारण करके किन्हीं तोरण-द्वारों की शोभा बढ़ाता है; उसका शरीर भवन-निर्माण में व्यापृत है और उसे थामता हुआ प्रतीत होता है। उसका विशाल वक्षःस्थल आभरणों से सजा हुआ है, उसके अगले पाँव भूतल पर विश्रान्ति ले रहे हैं; उसके तीन सिर इतने ही आधार-स्तम्भ जैसे सूँडों को धारण किये हुए हैं।

विशाल प्रकोष्ठों के सजाने में भी हाथी ने बड़ा योग दिया है। सर्वत्र उसका पर्यवस्थान यथार्थता और महनीयता की उत्कृष्टता से सम्पन्न है।

देवताओं की प्रतिमाएँ अनगिनित हैं। यहाँ पर कतिपय विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है।

गणेश—भारतीय बुद्धिमत्ता का अधिष्ठातृ-देव, शिव का पुत्र और दूसरा रूप, गणेश एक ऐसे व्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है जिसका शरीर स्थूल और पेट फूला हुआ है, जो हाथी के कान, सूँड और बाह्य दांतों को धारण किये हुए है और जिसके सिर पर एक राजमुकुट है। आगे चलकर हम देखेंगे कि बुद्ध को बहुशिरस्क नाग पर बैठा हुआ दर्शाया गया है जिसका कुण्डलीकृत शरीर उसे आसन का काम देता है, और जिसकी फणाओं का छत्र उसकी रक्षा करता है।

शिल्पशास्त्र का पूर्ण ज्ञान—कम्बुज-कला पर इन समष्टिविषयक विचारों को समाप्त करने के साथ साथ इतना और कह देना उचित जान पड़ता है कि वहाँ के योग्य शिल्पी स्वभावतया शिल्प-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान रखते थे, जिसके रहस्यों को हम नहीं देख पाते किन्तु जिसकी परिणतियाँ भारी भारी पत्थरों—बीस बीस मन तक—की राशि से प्रसिद्ध हैं, पत्थर जो कि दूरवर्ती प्रदेशों से लाये गये थे और कभी कभी विस्मयावह ऊँचाई को पहुँचाये गये थे। इस प्रकार, एक पिरामिड (कोह केर) के शिखर पर अभी तक वालुका-पाषाण की एक शिला देखी जा सकती है जो तेरह फीट लम्बी, चार फीट चौड़ी और तीन फीट मोटी है।

निर्माताओं की अदक्षता—दूसरे दृष्टिकोण से निर्माताओं की अनभिज्ञता और अदक्षता प्रकट होती है। आधार-दन्तक उनके गुम्बदों को विस्तीर्ण न कर सके। इससे अधिक शोचनीय बात यह है कि उनकी भित्तियां शिला के

ऊपर शिला खड़ी करके बनाई गई हैं, उनके जोड़ों को पाषाण-पटलों से दबाने की कोई चिन्ता ही नहीं की गई, शिलाएं लम्ब रूप से उठती हुई चली गई हैं; फलतः उद्भिज्जाल के आक्रमणों से वे अपनी रक्षा न कर सकीं।

कारण नहीं समझ में आता कि ये सभी अधूरे क्यों छोड़े गये हैं।

उनकी नियति भी उनके चिरस्थायित्व में सहायता-प्रदान न कर सकी। इन मन्दिरों में राजा महाराजाओं के भस्माव-शेषों से युक्त बहुमूल्य धातु के बने हुए पात्र रक्खे जाते थे; गृध्नुता के लिये ये अनवरत प्रलोभन थे, यद्यपि शान्ति के समय इस प्रकार देवस्व अपहरण करने का दण्ड भी कोई साधारण नहीं होता था। किन्तु क्रान्ति के समय देवस्वापहारियों को कौन सज़ा देने लगा था? फलतः मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट किया जाता था।

कम्बुज-कला पर समष्टि रूप से दृष्टि-पात कर, अब हम प्रथम प्रभविष्णु निर्माता—कम्बोडिया की महती वास्तु-कला के राजकीय प्रवर्त्तक—के राजत्व-काल में प्रवेश करते हैं।

——:o:——

जयवर्मा परमेश्वर ।

जयवर्मा तृतीय—जयवर्मा तृतीय, जिसका अभिषेक सन् ८०२ ई० में कम्बोडिया के अन्ध-युग के अवसान का सूचक है, इन्दोचीन के अत्यन्त प्रभावशाली सम्राटों में था। कई शताब्दियों तक उसका नाम उत्तरकालीन राजाओं की वंशावलियों में उत्कृष्ट स्थान अधिष्ठित किये रहा और अब भी वह कम्बोडिया की अनेक विश्रुत गल्पों का अधिनायक है। वह अपने मृत्यु के बाद के नाम *'परमेश्वर'* से अधिक प्रसिद्ध है। वह जितना प्रतापी था उतना ही दर्शनीय और प्रजा-वत्सल भी था।

चार राजभवन—"श्रीकम्बु के सूर्यवंश की मान-मर्यादा के रक्षक, इस रणधीर" सम्राट् ने कम्बोडिया को एकता के सूत्र में सन्निहित किया और वहाँ की संस्थाओं का पुनरुद्धार किया। उसने सम्भवतः चार राज-भवन बनवाए; कम से कम इस राज्य के एक दुर्लभ शिलालेख में उनका उल्लेख हुआ है।

ये राज-भवन राज्य के प्रान्तों को चार राजकीय विभागों में बाँट देते हैं और स्वयं इस प्रकार विभक्त हैं—तत्कालीन राजा का भवन, जो अतुलनीय और सबसे अधिक महत्त्व का

था, राज्य से संन्यास लेनेवाले राजा का भवन. युव राज का भवन, और राज-माता का भवन। प्रत्येक के अलग अलग अधिष्ठाता और कर्मचारी थे।

फिर 'परमेश्वर' ने कम्बोडिया के महान् निर्माणों के युग का प्रतिष्ठापन किया।

राज्य-प्राप्ति—उसे राज्य की प्राप्ति प्राचीन राज-वंश के मूलोच्छेद होजाने पर हुई होगी। फ्नौम साण्डाक शिला-लेख में उसके विषय में लिखा है—

"योऽभूत् प्रजोदयायैत्र राजवंशेऽतिनिर्म्मले।
अपङ्कजमहापद्मे पद्मोद्भव इवोदितः ॥"

अर्थात् प्रजा के अभ्युदय के लिए मृणाल-रहित महापद्म जैसे निर्मल राजवंश में नूतन कमल की भाँति उसका आविर्भाव हुआ।

रुद्रवर्मा और पुष्कराक्ष से सम्बन्ध—मालूम होता है वंशावली-लेखकों ने भी छठी शताब्दी के रुद्रवर्मा से उसका परम्परा-सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है, किन्तु सन्देहास्पद ढँग से। इससे अधिक निश्चयात्मकता से वे इस सम्बन्ध को पुष्कराक्ष के साथ स्थापित करते हैं, जो आठवीं शताब्दी के आरम्भ में शम्भुपुर (साँबोर) का राजा था और जिसने अनिन्दितपुर के प्राचीन राजवंश में जन्म लिया था। यह हमारे 'परमेश्वर' की माता के मामे का मामा था।

शायद इन निर्बल और विवादास्पद स्वत्वों के साथ सिंहासन के लिए उसका प्रधान अधिकार जावा के महाराज

की उदारता अथवा सहायता था, जिसने इस नववयस्क कम्बुज राजकुमार को अपने देश को लौटने दिया।

शिलालेखों में जयवर्मा परमेश्वर का विवरण—१०५२ के एक शिलालेख में, जो संस्कृत और खमेर दोनों भाषाओं में है, जयवर्मा परमेश्वर का विवरण इस प्रकार दिया गया है—"श्री देवपाद परमेश्वर जावा से इन्द्रपुर में राज्य करने के लिए आये .... फिर श्री देवपाद परमेश्वर इन्द्रपुर को छोड़कर हरिहरालय में राज्य करने गये ... श्री देवपाद ने अमरेन्द्रपुर की स्थापना की ....फिर श्री देवपाद महेन्द्र पर्वत में राज्य करने गये.... महेन्द्रपर्वत राजधानी में श्री देवपाद ने 'देवराज' की प्रतिमा को स्थापित किया। तब जनपद से (सम्भवतः भारत के किसी प्रान्त से) हिरण्यदाम नामी एक निपुण तान्त्रिक ब्राह्मण आया; क्योंकि श्री देवपाद परमेश्वर ने उसको एक संस्कार-पद्धति तैयार करने के लिए बुलाया था, जिससे कम्बुजदेश को जावा पर अवलम्बित न रहना पड़े और जो देश के चक्रवर्ती राजा के अनुरूप हो। इस ब्राह्मण ने अपनी स्मृति से आदि से अन्त तक विनाशिक, नयोत्तर, संमोह और शिरश्छेद तान्त्रिक ग्रन्थों का उदीरण किया जिससे वे लिपिबद्ध किये जा सकें। फिर उसने इन्हें शिवकैवल्य को पढ़ाया और महेन्द्रपर्वत में 'देवराज'-धर्मनिष्ठा की नींव डाली। जिसका प्रथम पुरोहित शिवकैवल्य बनाया गया। राजा और हिरण्यदाम ने संकल्प किया कि पौरोहित्य का अधिकार सदा शिवकैवल्य के ही कुल में चलता रहेगा।

इसके बाद श्री देवपाद परमेश्वर हरिहरालय को वापिस आये और 'देवराज' को भी साथ लेते आये । यहीं—हरिहरालय में—श्री देवपाद परमेश्वर की मृत्यु हुई । तब से 'देवराज' को विविध राजधानियों में—जहाँ जहाँ राजा लोग निवास करते रहे—ले जाया जाता रहा ।"

इन्द्रपुर—इस वाक्-प्रपञ्च से मालूम होता है कि इन्द्रपुर परमेश्वर के जावा से आने से पहले ही विद्यमान था। यह नगर कम्बोडिया के किसी पूर्ववर्ती प्रान्त में स्थित था। थबाँग खमुम में प्रापित झील की दक्षिण तरफ़ फुम मिश्राँ के एक और शिलालेख में इन्द्रपुर का उल्लेख हुआ है। फ्नोम पेन्ह के ऊपर महानद मेकाँग के परिसर में जो वाट नौकोर या फ्नोम बाशेई के खण्डहर मिलते हैं, जिनके कुछ हिस्से अति प्राचीन हैं, शायद वहीं पर यह नगर स्थित था।

परमेश्वर की तीन राजधानियाँ—उक्त प्रपञ्च से यह भी अनुमान निकलता है कि परमेश्वर ने एक एक करके तीन राजधानियाँ बसाईं। यह ठीक है कि अमरेन्द्रपुर को छोड़ कर और किसी के लिए स्थापना शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है और हरिहरालय और महेन्द्रपर्वत के विषय में केवल यह कहा गया है कि वह वहाँ राज्य करने गया; किन्तु अन्यत्र कई स्थलों पर महेन्द्रपर्वत नगरी के स्थापित किये जाने की चर्चा हुई है और यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं दीखता कि उसने हरिहरालय को भी न बनवाया हो।

खमेर वास्तुकला का नवीन रूप—जयवर्मा पर-

मेश्वर के ६७ वर्ष के दीर्घ शासन-काल में जो ये तीन नगर बने उनका तादात्म्य दिखलाते हुए श्रीयुत ऐमोनिए कहते हैं—हरिहरालय का सायुज्य उस स्मारक से किया जाना चाहिए जिसे इस समय प्राखान या बाँटेई प्राखान कहते हैं और जो उत्तर की ओर भावी राजधानी अँगकोर थाम के परिसर में स्थित था। फलतः यह मन्दिर कम्बोडिया के महान् निर्माणों और उन अप्रतिम भवनों का उपक्रममात्र था जो बाद को उसकी परिस्थित में बने और जो आज 'अँगकोर वर्ग' नाम से विख्यात हैं। आरम्भ में यह स्थान अवश्य वृक्षों से आच्छन्न और सम्भवतः उजाड़ हालत में था किन्तु अन्य दो विशाल निवासों की अपेक्षा यह कम वीरान था। शायद परमेश्वर पर्वतों के निकट रहना पसंद करता था और जंगली हाथियों के रोमाञ्चकारी आखेट का बड़ा शौक़ीन था।

अँगकोर की परिस्थिति—अँगकोर की यह परिस्थिति अनेक सुविधाओं से भरपूर थी। पास ही धान के सुन्दर हरे भरे खेत विद्यमान थे। यहाँ एक नदी बहती थी जिसका स्वच्छ प्रचुर जल-स्रोत कभी विरत नहीं होता था। इस परिधि में अन्य कोई भाग ऐसा नहीं जहाँ से मछलियों का अक्षय भाण्डार टानले-सैप अधिक निकट पड़े; इस प्रदेश की सुदृढ़, शुष्क भूमि अपने उच्छ्रित रूप में परिधि के अन्य स्थानों की अपेक्षा विशाल झील की ओर कहीं अधिक दूर तक आगे बढ़ती हुई चली गई है।

एक विस्तृत तड़ाग—तत्कालीन प्रथा के अनुसार

प्राखान के मन्दिर के पूर्व में एक विस्तृत आयताकार तड़ाग बनाया गया था, जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम को दो मील से कुछ ही कम और चौड़ाई उत्तर से दक्षिण को आध मील से भी अधिक थी। इस तड़ाग के खुदवाने में बहुत धन व्यय नहीं करना पड़ाथा। उसे गहरा करने के लिए ज़मीन को खोद कर चारों ओर मिट्टी के ढेर लगा दिये गये थे। इसका पोषण एक नदी से होता था, जो इसके पूर्वी तट पर पास पास बहती चली जाती थी और फिर घूम कर दक्षिणी किनारे के समानान्तर बहती हुई एक और घुमाव के बाद दक्षिण को चली जाती थी।

यह तड़ाग आज सूखा पड़ा है। देशी लोग उसकी स्मृति तक खो चुके हैं और उन्होंने उसे "प्रा रीच डाक" नाम दे दिया है जिसका अर्थ 'पवित्र राजकीय आवास' है; यह बात कभी उनके ध्यान में नहीं आई कि "डाक" प्राचीन संस्कृत पद तटाक का बिगड़ा हुआ रूप है।

नाक पेआँ—इस विस्तृत तड़ाग के मध्य में एक छोटा सा मन्दिर बना हुआ था जिसे आज देशी लोग "नाक पेआँ"—मण्डलीकृत नाग कहते हैं, क्योंकि दो बहुशिरस्क कृत्रिम सर्प अपने शरीर से उसके पुण्य-स्थल को घेरे हुए हैं।

यूरोपियन गवेषक उसे बहुत पहले एक पृथक् स्मारक मान चुके थे, किन्तु श्रीयुत पेमानिए ने सिद्ध कर दिखाया है कि वह प्राखान के विशाल मन्दिर का ही एक अङ्ग है; यद्यपि इन दो स्मारकों के बीच एक मील से भी अधिक अन्तर है।

इस युग के अनेकों स्मारकों के सम्मुख जो विस्तीर्ण तड़ाग खोदे जाते थे उनके मध्य में बने हुए इन द्वितीय श्रेणी के छोटे मन्दिरों का प्रयोजन और उनकी नियति मनन करने की वस्तु है, उनकी यथार्थता विचारणीय विषय है। यहाँ पर प्रस्तुत विषय की कुछ विशेषताएं प्रदर्शित की जाती है।

विशाल तड़ाग के मध्य में जो आज सूखा पड़ा है, किनारे से लगभग साढ़े तीन सौ गज की दूरी पर एक छोटा सा वर्गाकार द्वीप जैसा बनाया गया था, जिसके किनारे एक अल्पपरिमाण दीवार से दृढ़ किये गये थे। इस द्वीप के चारों कोनों पर चार जलाशय खुदे हुए थे, जिन में प्रत्येक का क्षेत्रफल लगभग ५६०० वर्ग गज था। उसके मध्य में इनसे भी छोटे चार और जलाशय पिछवाड़े के एक पवित्र कासार को घेरे हुए थे, जिस का कमल के फूलों से खचित हुई पत्थर की सीढ़ियों से युक्त वृत्ताकार अन्दरूनी किनारा दो बहुशिरस्क सर्पों के मण्डलीकृत शरीर को थामे हुए था, जिनके भयावह सिर पूर्व में पन्द्रह सोलह गज के व्यास के पिछले तटाक-द्वीप के द्वार की रक्षा में संलग्न थे। इसके बीच में एक छोटा सा पुण्य-स्थल—एक क्रूशाकार भवन था, जो आज पूर्णतया एक न्यग्रोधवृक्ष की जड़ों में जकड़ा हुआ है।

यहाँ आप वर्तुलाकार शिरोवेष्टन पहने हुई सुन्दर मानवी मूर्तियों को देख सकते हैं, जो हाथ में सर्पों को थामे हुई हैं।

ये अनेकों जलाशय और ये प्रतिमाएँ किसी जल-देवता की प्रदर्शक प्रतीत होती हैं। पाषाण-सर्प जो चारों ओर कुण्डली बाँधे विश्रान्ति ले रहे है और जिनके नाम से यह छोटा मन्दिर

पुकारा जाता है हमें इस अनुमान की ओर ले जाते हैं कि कम्बुज-राष्ट्र की काल्पनिक प्रतिष्ठात्री नागी सोमा की यहाँ उपासना होती थी।

प्रायः इस द्वितीय श्रेणी के अन्य सभी स्वल्पकाय मन्दिर इस समय "मेबून" नाम से—जिसकी व्युत्पत्ति और सार्थकता अज्ञात हैं—पुकारे जाते हैं।

प्रा खान—इस छोटे मन्दिर "नाक पेआँ" के पश्चिम में एक मील से भी अधिक दूर पर "प्रा खान" के प्रथम प्राचीर-
ध—पुरी अथवा राजकीय निवास के प्राकार का आविर्भाव होता है। चारों ओर एक गहरी आयताकार खाई है जो लगभग ४४ गज चौड़ी है। खाई को पार करने के लिए चारों ओर बीच बीच में प्राचीर-बन्ध तक—जहाँ अनेकों भीमकाय पहलवान बहुशिरस्क नागों को लिये उपस्थित हैं—चार विस्तृत शानदार पुल बने हुए हैं। सर्पों के भयावह सिर नगर-द्वार की रक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। सामने अति विशाल त्रिगुण द्वार हैं।

इन फाटकों की दाहिनी और बाईं तरफ़ को, खाई से सोलह सत्रह गज की दूरी पर, एक गज से अधिक मोटी और छः सात गज ऊँची एक दीवार चली गई है, जिसका सिरा उत्कीर्ण वालुका-पत्थरों से अलंकृत था। इस दीवार के सबसे अधिक भव्य अलंकरण उसके बृहत्काय पाषाण-गरुड़ हैं। उसका परिमाण लगभग पूर्व-पश्चिम को ६३० गज और उत्तर-दक्षिण को ८२० गज है।

दीवार के अन्दर पुरी चौतरों और विविध निर्माणों और मन्दिर को जाने वाली वीथिकाओं के अवशेषों से युक्त है। मन्दिर का परिवेष्टन पूर्व-पश्चिम को २७३ गज और उत्तर-दक्षिण को १६१ गज है । चारों ओर चार विशाल भव्य द्वार उसकी शोभा बढ़ाते थे । उसका अभ्यन्तर वालुका-पाषाण और लाइमोनाइट के बने पुण्य-स्थलों और केन्द्रीभूत कुञ्ज-गलियों, द्विगुणित स्तम्भ-पंक्तियों और केन्द्रस्थ देवालय को जाने वाले आच्छन्न मार्गों की जटिल सरणी से परिपूर्ण था । इस देवालय के भी चार दरवाज़े थे और उसके ऊपर वालुका-पाषाण की एक ऊँची अट्टालिका थी ।

गवेषकों का विश्वास है कि प्रा खान में ४७ तक अट्टालिकाएँ थीं । कुछेकों की धारणा है कि इन अट्टालिकाओं पर साधारणतया छद्मवेशिनी मानव-मूर्तियां थीं; दूसरे इस बात का विरोध करते हैं । अन्यत्र सब कुछ शोचनोय ध्वंसावस्था में पड़ा है । किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मन्दिर के उत्तर और पूर्व की ओर के निकटवर्ती स्मारकों की जो इसी युग के बने हुए प्रतीत होते हैं—इस प्रकार की छद्मवेशिनी मानव-मूर्तियों से युक्त अट्टालिकाएँ रही हैं ।

प्रा खान की विशेषता—प्रा खान की विशेषता उसकी कल्पना की महत्ता है । यह पुरी निःसन्देह एक विस्तीर्ण और महती राजकीय निवास-स्थली—एक बड़ी भारी स्थायिनी जन-संख्या को आश्रय देने वाली राजधानी—थी । अब भी वह निर्माण की कतिपय आरम्भिक सरणियों की

मौलिकता से उपलक्षित है; उदाहरण के लिए एक स्वल्प-परिमाण मन्दिर को लीजिए, जो अत्यन्त घने गोल पीलपायों पर अवलम्बित है।

दूसरी ओर, ब्राह्मणी विषयों के तक्षण की बहुविधता, गहरी अङ्कित की हुई उत्कृष्ट श्रेणी की अलंक्रिया, प्रायः नैसर्गिक भव्यता और संभावनीय निष्पत्ति की प्रथम आभा को लिये भित्तियों पर की परियाँ और देवियाँ, अन्य अपूर्व मायाविनी प्रमदाएँ जिनके शरीर का निचला हिस्सा चूर्णकुन्तलाकार नाग-मक्षिकाओं के रूप में है, प्राचीर-बन्ध की दीवारों के महान् गरुड़, अन्ततः वीथियों के भीमकाय पहलवान और बहुशिरस्क सर्प, सभी प्रा ख्मेर कला के अत्यन्त कल्पनोत्सर्पी निर्माणों में स्थानापन्न करने के लिए योग देते हैं।

यहाँ के ध्वंसावशेषों में जो देवमूर्तियाँ मिली हैं उनमें बुद्ध के प्राचीन ढँग के शिर और नागासीन 'प्रभु' की प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई प्रतीत होती हैं।

अमरेन्द्रपुर (बांटेई छमर)—हरिहरालय के पश्चात्, परमेश्वर अमरेन्द्रपुर राजधानी की स्थापना करने गया। धार्मिक बहुविधता, जो प्रस्तुत युग की एक विशेषता है, यहाँ कहीं अधिक स्पष्टता से अपने आपको प्रदर्शित करती है। इस पुरी का तादात्म्य श्रीयुत ऐमोनिए ने उस स्मारक से किया है जिसे आज "बाँटेई छमर" कहते हैं और जिसे दूसरे शब्दों में "मार्जार-दुर्ग" या "लघु दुर्ग" कह सकते हैं, क्योंकि छमेर शब्द इन दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है।

नगर का तड़ाग—तड़ाग, जिसे कम्बोडिया के अन्य अनेकों प्राचीन जलाशयों की भाँति इस समय 'बारे' कहते हैं, नगर के पूर्व में लगभग पूर्व-पश्चिम को २२०० और उत्तर-दक्षिण को ११०० गज तक फैला हुआ है। प्राखान के तड़ाग की तरह इसे भी बहुत गहरा नहीं खुदवाया गया था। उसे गहरा बनाने के लिए चारों ओर मिट्टी के ढेर लगा दिये गये थे; किन्तु यहाँ उसे लाइमोनाइट की एक दस फीट ऊँची दीवार से दृढ़ किया गया था। इस तड़ाग का पोषण उत्तर-पूर्व से आनेवाले एक बरसाती नाले से होता था, जो वर्ष भर में छः महीने सूखा पड़ा रहता था। तड़ाग के दक्षिण-पश्चिम कोने की ओर एक पाषाण-बन्ध था जो इस समय भी ज्ञात हो सकता है; इससे पानी को सुरक्षित और उसकी सतह को नियमित रक्खा जा सकता था। फाटक और जलनिर्गम-द्वार लकड़ी के बने होने के कारण शताब्दियों से अन्तर्हित हो चले हैं; तड़ाग इस समय वस्तुतः एक "बारे"—एक सूखा घासमय मैदान है।

इस तड़ाग के मध्य में "मेबून" अथवा द्वितीय श्रेणी का स्वल्प-काय मन्दिर खड़ा था। इस नये नगर के सभी अङ्गों को महत्ता के लिए विशेष अवकाश मिला; अतएव प्राखान के "नाक पेआँ" की अपेक्षा वाँटेई छमर का "मेबून" भी अधिक विस्तीर्ण था। तटाक-द्वीप में, जो पानी से कुछ ही ऊँचा उठा हुआ था, कई जलाशय खुदे हुए थे, जिनका विस्तार सोलह गज से बीस बाइस गज तक रहा होगा और जो इतने परि-माण के स्थलमय चौतरों को एक दूसरे से पृथक् करते थे।

ये सभी जलाशय तड़ाग के जल के साथ पत्थर के बने हुए उस स्वल्प-विस्तर पुण्य-भवन की ओर एक त्रिगुणात्मक जल-मय मेखला बनाते थे जो इस समय बिल्कुल उजाड़ पड़ा है और जो सम्भवतः राष्ट्र की अधिष्ठात्री नागी सोमा का मन्दिर था।

नगर का प्राकार-बन्ध—पश्चिम में नगर के प्राकार बन्ध का आयत, जो तड़ाग से अधिक चौड़ा प्रतीत होता है, तड़ाग का आलिङ्गन करने के लिए दाहिनी और बाईं ओर दो सौ गज से अधिक दूरी तक आगे बढ़ता चला गया था। ये प्राकार मिट्टी के दस दस फीट ऊँचे टीलों से अभी तक प्रद-र्शित होते हैं; सम्भवतः उनके बाहर लकड़ी की कड़ियाँ अथवा वृक्षों के स्कन्ध लगे हुए थे, जिनका अब कोई अवशेष विद्य-मान नहीं है। प्राकार-बन्ध का विस्तार पूर्व-पश्चिम को २७०० गज के लगभग और और उत्तर-दक्षिण को २२०० गज से कुछ ही कम था। अन्दर की ओर एक विस्तीर्ण खाई थी।

नगर के भवन—एक विशाल भवन, जिसका विव-रण आगे दिया जाता है, और अनेकों चौपालों,—जिनके चिन्ह अभी तक देखे जा सकते हैं—के अतिरिक्त नगर के अन्दर कोई आधा दर्जन द्वितीय श्रेणी के मन्दिर बने थे। इनमें पहली आयताकार खाई, लाइमोनाइट की बनी हुई पहली दीवार, एक और खाई, एक दूसरी दीवार, कुञ्जगलियों का एक आयताकार विहार जो मध्य के प्राङ्गण को घेरे हुए है—जहाँ एक पुस्तकालय और एक पुण्य-भवन था, ये सभी सम्मिलित हैं।

प्रधान मन्दिर—इस विस्तीर्ण नगर के मध्य में प्रधान मन्दिर की चारों तरफ़ एक चतुष्कोण प्रथम परिधि, एक गहरी खाई, थी जिस पर लाइमोनाइट का आवरण लगा हुआ था और जिसकी चौड़ाई चालीस पैंतालिस गज और विस्तार लगभग पूर्व पश्चिम को १०६० गज और उत्तर-दक्षिण को ८७५ गज था। अन्दर की ओर खाई से दस बारह गज की दूरी पर एक दस फीट ऊँची दीवार थी; कृत्रिम मल्लों और पत्थर के बने हुए बहुशिरस्क सर्पों से युक्त प्राकार तक पहुँचने के लिए परिखा चारों ओर बीच बीच में बारह तेरह गज चौड़े चार सेतुबन्धों से पार की जाती थी। सामने चार विशाल द्वार थे जिनके अग्रभाग भीमकाय गरुड़ों से अलंकृत थे और जिनकी अट्टालिकाएँ चतुर्मुखी अथवा पञ्चमुखी छद्मवेशिनी मानव-प्रतिमाओं से युक्त थीं।

इस विशाल मन्दिर की प्रथम परिधि के अन्दर पाषाण-सिंहों से अलंकृत लगभग २७५ गज लम्बी चार पटलमय वीथिकाएँ भीतरी उद्यान के आर पार चली गई थीं।

प्रतिछायाएं—लाइमोनाइट की एक दीवार, जिसका शिखर वालुकापत्थर की अलंक्रिया से युक्त था, एक और अन्दरूनी परिधि को बनाती है। अन्ततः उत्तर से दक्षिण को लगभग ६० गज चौड़े और दूसरी ओर इससे दुगने लंबे प्राङ्गण की चारदिवारी मिलती है; उसके चारों पास गरुड़ों से सजे हुए चार विशाल त्रिगुणात्मक द्वार थे जिन पर चतुर्गुण छद्माकृति मानव-प्रतिमाओं से युक्त अट्टालिकाएँ बनी हुई थीं।

इस दीवार के साथ साथ एक द्विगुणित स्तम्भ-पंक्ति चली जाती थी। दीवार पर उस सरणी की "प्रतिच्छायाएं" बनी हुई हैं जिन्हें हम कम्बोडिया के दो अत्यन्त भव्य मन्दिरों—बेयों और अँगकोर वाट—में पायेंगे।

बाँटेई क्मर में ये प्रतिच्छायाएँ आर्य-देवताओं को प्रदर्शित करती हैं, जिनके ऊँचे वर्तुलाकार शिरोवेष्टनों पर कभी कभी बुद्ध की छोटी सी प्रतिकृति खुदी हुई मिलती है। धार्मिक जुलूस, हवन करने वालों की मंडलियाँ, पालकियों में बैठी हुई राजकुमारियाँ, सेनाओं और अध्यक्षों की पंक्तियाँ, लड़ाइयों के दृश्य, समुद्री संग्राम और संघर्ष भी इन प्रतिच्छायाओं में दिखाये गये हैं।

प्राङ्गण के अवशेषों में गिरे हुए पत्थरों के भूलभुलैयाँ को छोड़ कर और कुछ नहीं; विशाल गरुड़ों से सजे हुए खम्भों पर स्थित चौपाल, कुञ्जमार्ग, अट्टालिकाएं, द्वार-प्रकोष्ठ, सब धराशायी होकर एकाकार हो गये हैं, इस समय कुछ भी स्पष्ट नज़र नहीं आता।

बाँटेई क्मर का विशाल मन्दिर नीलिमा-युक्त वालुका-पाषाण का बना हुआ था, जिसको विस्मयावह ढँग से प्रयुक्त किया गया था और जो सम्भवतः दूर से लाया गया था; यह पत्थर इस परिस्थिति में उपलब्ध नहीं होता। भवनों के निर्माण में यहाँ ईंट और लाइमोनाइट का प्रयोग दुर्लभ जैसा हो चला है।

कमज़ोर स्थापनाओं, निर्माण-दोषों, उद्भिज्जाल और

शताब्दियों के प्रवाह ने उसे शोचनीय खण्डहरों का रूप दे दिया है, उसकी दशा भी प्रा खान ही की जैसी होचली है।

उसकी निर्माण-सामग्री का ढेर, उसके अलंकरण की आढ्यता, उसकी सुन्दर प्रतिच्छायाओं का अस्तित्व बाँटेई छमर को महत्ता में अँगकोर थाम और बेयों के समनन्तर ही स्थान प्रदान करते हैं। दूसरी ओर, उसके त्रिगुण उद्घाटन युक्त विशाल द्वारों की वास्तुकला, उसके सादे और स्थूल तक्षण, स्तम्भ-प्रमदाओं के महान् गरुड़ों की प्रचुरता, भीमकाय मल्लों और बहुशिरस्क सर्पों से युक्त प्राकार को जानेवाले सेतु-बन्ध, सभी उसे प्रा खान के साथ सम्बद्ध करते हैं।

उस युग का धार्मिक समवाय—हर एक बात में यह मन्दिर उस युग के विविध भारतीय सम्प्रदायों के संमिलन को प्रदर्शित करता है। सम्भवतः वह स्वयं शिव से सम्बन्ध रखता था किन्तु उसके शैव धम को महायान बौद्ध मत का गहरा रङ्ग मिल चुका था। उसके अग्रभागों के कई दृश्य बौद्ध गाथाओं से लिये गये हैं। अनेकों वहाँ 'प्रभु' की प्रतिमाएं हैं, उनसे भी कहीं अधिक अन्य व्यक्तियों के शिरोवेष्टनों में उसकी छोटी छोटी प्रतिकृतियाँ—शायद देवत्व को प्राप्त हुए उसके भक्तों की मूर्तियाँ—विद्यमान हैं।

अन्यत्र यह बाँगकोक के सुन्दर संस्कृत शिलालेख का युग था, जिसमें बौद्ध संघ को एक अग्रहार दान करने की चर्चा है और जो अपने प्रबल आदेश और राजकीय विशेषता के लिए उल्लेखनीय है। यह शिलालेख वाट बारोमनिवेट में सुरक्षित है।

यह धार्मिक समवाय, जो शैव धर्म और महायान बौद्ध मत को घनिष्ठता के सूत्र में संनिहित करता है, एक ऐसे सम्राट् के पत्त में कोई आश्चर्यजनक नहीं जो अपने शैशव में जावा के परम्बन और बोरोबुदुर मन्दिरों को देख चुका था और उन्हें सराह चुका था।

महेन्द्र पर्वत—कुछ काल के पश्चात् परमेश्वर ने अमरेन्द्रपुर राजधानी को भी छोड़ दिया और महेन्द्रपर्वत पर, जिसे इस समय वहाँ के निवासी फनौम कुलेन—लीची-पर्वत—कहते हैं—एक नये नगर की स्थापना करने गया। यह घटना उसके समकालीनों की दृष्टि में एक विस्मय की वस्तु थी और प्राचीन कम्बोडिया के कवियों ने उसे चिरकाल से पत्थर पर विश्रुत कर छोड़ा है।

महेन्द्र-पर्वत वालुका-पाषाण का एक अपरिमेय निचय है, जो १३०० फीट से भी अधिक ऊँचा है और अँगकोर की परिस्थिति पर अपना प्रभुत्व प्रदर्शित कर रहा है। दक्षिण-पूर्व को वह घोड़े के नाल की भाँति गोल है, जहाँ उसकी ऊपरी अधित्यका पांच छः मील विस्तृत है, उत्तर पश्चिम की ओर वह द्विगुण प्रसार के साथ आगे बढ़ता है और उत्तरोत्तर एक कुञ्ज के रूप में खुद जाता है। उसका बायाँ किनारा एक तराई में अवतरण करता है, जहाँ पर्वत का सब पानी इकट्ठा होकर गिरता है, दाहिनी ओर वह दूरवर्तिनी दान-ग्रेक पर्वत-माला के समागम के लिए आगे बढ़ता चला गया है।

महेन्द्रपर्वत के पार्श्व अत्यन्त उत्सर्पी, विशाल वृक्षों से ढके हुए और वालुका-पाषाण की भारी भारी शिलाओं से

अनुस्यूत हैं । उनके उत्संगों में अनेक नैसर्गिक कन्दराएँ खुदी हुई हैं।

कुलेन के दक्षिण-पूर्वी कोण की उपत्यका में टक चेआम नामी एक दलदल के किनारों से एक काफी विकट मार्ग चट्टानों से उत्सर्पण करता हुआ पर्वत के शिखर तक पहुँच गया है । यहाँ एक अकिञ्चन पल्ली के निकट एक जल-स्रोत अपने पानी को एक बावड़ी में उंडेलता है, जहाँ से उसका निकास एक पतले नाले में होता है, जो आरम्भ में मन्द गति से बहता है, किन्तु कुछ ही आगे उसका उत्संग गहरा पड़ जाता है और दोनों पार्श्वों से तीव्रगामी स्वच्छ प्रचुर जल से भरी हुई अन्य क्षुद्र सरिताएं उसमें भागती हुई चली आती हैं। और अधिक दूर पर घाटी के विशाल वृक्षों के नीचे यह प्रबल धारा बालुका-पत्थर की एक दीवार से टकराती है, कुछ घूम घाम के बाद अपना निकास ढूंढ़ निकालती है और अनेकों प्रपातों से गिरती पड़ती एक वीरान जंगली मैदान में पहुँचती है, जहाँ वह आप्लावित वन और विशाल झील को पहुंचने के लिए अँगकोर के खण्डहरों और सियाम रीप नगर की ओर प्रवाहित होती है। उद्गम से मुहाने तक उसका मण्डलाकार मार्ग ३८ मील से अधिक नहीं है । वर्षा ऋतु में वह परिपुष्ट होकर लहराने लगती है। प्रस्तुत स्थान के चुनाव में इस नदी ने भी अवश्य ही योग दिया होगा।

साधारणतया विशाल वृक्षों से ढकी हुई कुलेन की ऊपरली अधित्यका के समाप्त हो जाने पर आगे खुले रेतीले स्थान आते हैं, जहाँ चौगाल और वालुका-पत्थर के चट्टान

मिलते हैं। यहाँ चार पाँच छोटी छोटी पल्लियाँ हैं; उनके निवासी एक आदिम जाति से सम्बन्ध रखते हैं जिसे खमेर लोग सामरे कहते हैं। ये दरिद्र लोग जङ्गल के चक्र के चक्र काटते और जलाते हैं। जिससे वे वहाँ थोड़ा बहुत धान बो सकें। उन्हें कुलेन फल की निगरानी करनी पड़ती है, जिसकी फ़सल को बटोरने का काम परम्परा से सियाराम रोप के कुछ लोगों को करना होता है।

राजधानी की स्थापना—कुलेन पर्वत पर कोई खण्डहर ऐसे नहीं हैं जो किसी राजधानी की स्थापना को सूचित करते हों, जो एक "विस्मयावह घटना" थी। फिर भी सभी शिलालेख, जो उसकी चर्चा करते हैं। महेन्द्रपर्वत के शिखर पर ही परमेश्वर की राजधानी का होना बतलाते हैं। उदाहरण के लिए जयवर्मा परमेश्वर के विषय में कहा गया है—

"सिंहमूर्द्धन्यासनं यस्य राजमूर्द्ध्नि शासनम्।
महेन्द्राद्रेः पुरी मूर्द्धनि तथापि न तु विस्मयः॥"

उसका आसन सिंहों के सिर पर था, उसकी आज्ञा राजाओं के मस्तक पर, *उसका महल महेन्द्रपर्वत की चोटी पर........"* अन्य लेख इस पर्वत की अधित्यका की चर्चा करते हुए बतलाते हैं कि वहाँ अनेक गाँव थे, वहाँ नौ गाँवों का एक प्रान्त था। निःसन्देह ये सब अत्युक्तियाँ हैं।

चम्पा के पड़ोसी राज्य के विषय में जो गवेषणाएं हुई हैं उनसे शायद इस समस्या के हल करने में मदद मिलेगी।

मन्दिरों का एक सारा वर्ग—चम्पा की पवित्र राजधानी—पर्वतमेखला के आधार पर एक कासार में जो सम्भवतः किसी प्रागैतिहासिक झील का तलकूट था, एकत्रीभूत था। उसके एक उच्छिन्न पार्श्ववर्ती पर्वत का नाम उस समय वुग्वन था जो बिल्कुल नंगा है और जिस पर भवनों के कोई चिह्न विद्यमान नहीं हैं। मीसाँ के—यह उक्त खण्डहरों के विश्रुत वर्ग का वास्तविक नाम है—संस्कृत शिलालेख अनवरत निर्बन्ध-पूर्वक इस पर्वत पर एक शिव-मन्दिर का होना बतलाते हैं, जो वस्तुतः पर्वत के आधार पर बना हुआ था।

यह भी हम जानते हैं कि धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार कम्बोडिया के मन्दिरों की अट्टालिकाएं "पर्वत" कहलाती थीं। अब हम देखते हैं कि कम्बोडिया और चम्पा, इन दोनों पड़ोसी भारतीय राज्यों, में उस समय मन्दिरों के प्रतिष्ठापन के लिए एक नियम अस्तित्व में आ चुका था, जिसके अनुसार उन्हें इतनी ऊँचाई पर होना चाहिए जो इस प्रकार के महान् प्रयास के लिए वस्तुतः दुरारोह थी। फलतः सिद्धान्त और व्यवहार के विरोध को मिटाने के लिए कल्पना ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया। मैदान में स्थित होने पर भी ये स्मारक किसी अज्ञेय साहचर्य के कारण सीधे पर्वत शिखरों पर पहुँच जाते थे, और जितनी ही कम उनकी वास्तविक स्थिति सिद्धान्त के अनुकूल होती थी उतना ही अधिक उन पर कल्पना का रंग चढ़ाना पड़ता था।

बेंग माला—कम्बोडिया के अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त विश्रुत स्मारकों में एक महेन्द्रपर्वत की उपत्यका में स्थित है

जिसे आज बेंग माला कहते हैं और जो पर्वत के दक्षिण-पूर्वी कोण से पाँच छः मील की दूरी पर बना हुआ है, जहाँ वालुका-पाषाणमय ज़मीन की भङ्गुरता सम होने लगती है। यही जयवर्मा परमेश्वर की महेन्द्रपर्वत राजधानी थी। यहाँ भी एक बड़ा कृत्रिम तड़ाग, एक बहुत छोटा मेबून और पश्चिम की ओर राजधानी है। यहाँ भी हमें विस्तीर्ण खाई, पत्थर के विस्तृत पुल, शानदार फाटक, गैलरियों का आयत इत्यादि मिलते हैं जिन्हें हम दो पिछली राजधानियों में देख चुके हैं। किन्तु यहाँ मन्दिर के अतिरिक्त पत्थर के दो बड़े भवन हैं। सम्भवतः ये राजा के रहने के महल थे। दूसरी विशेषता भीतरी हिस्से में तालाबों की प्रचुरता है। ऐमोनिए इसे एक छोटासा 'वेनिस' कहता है जो राजेच्छा से एक शुष्क मरुस्थल में स्थापित किया गया था। सजावट भी-फूल, अराबेस्क इत्यादि-असाधारणतया सुन्दर है। किन्तु देवी देवताओं की मूर्तियां यहाँ कम हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि उत्तरकालीन शिलालेखों और अनुश्रुतियों में जयवर्मा की स्मृति अन्य राजधानियों की अपेक्षा महेन्द्रपर्वत या बेंग माला से अधिक सम्बद्ध प्रतीत होती है।

देवराज धर्मनिष्ठा—जैसा कि हम पहले देख चुके हैं देवराज धर्मनिष्ठा राष्ट्र का राजधर्म था और जयवर्मा परमेश्वर ने उसकी स्थापना की थी। इसी से मिलती जुलती धर्मनिष्ठा चम्पा और मध्य जावा में भी पाई जाती थी। चम्पा के डाँग डुआँग शिलालेख से मालूम होता है कि भद्रेश्वर (शिव) और तत्कालीन राजवंश के बीच एक रहस्यपूर्ण सम्बन्ध था। मध्य जावा के चंग्गल और डिनय शिलालेखों

में भी ऐसा ही सम्बन्ध सूचित किया गया है। कम्बोडिया में देवराज मरणशील राजाओं की शाश्वतिक मूलप्रतिमा है। इसके अतिरिक्त कम्बोडिया, चम्पा और जावा में इस घनिष्ठ सम्बन्ध में तत्कालीन राजवंश और शिवलिङ्ग के बीच राजपुरोहित को महत्त्वपूर्ण भाग लेते हुए पाते हैं। कम्बोडिया में यह राजपुरोहित हिरण्यदाम है, चम्पा में ऋषि भृगु और मध्य जावा में महर्षि अगस्त्य। सम्भवतः इन सबका एक ही मूल था। जावा केन्द्र रहा होगा, जहाँ से इस धर्मनिष्ठा का प्रसार हुआ और इस बात को हम सन् ७३२ के चंग्गल शिलालेख से जानते हैं कि जावा ने अपनी अगस्त्य धर्मनिष्ठा दक्षिण भारत में कुञ्जर कुञ्ज से प्राप्त की।

कम्बोडिया में देवराज धर्मनिष्ठा ने राजपुरोहित को धर्माध्यक्ष के आसन पर बिठा दिया। और कम्बुज आचार्याधिपत्य को जयवर्मा तृतीय ने स्थापित किया। हम देख चुके हैं कि किस तरह शिवकैवल्य के कुल में देवराज का पौरोहित्य पैतृक-स्व हो गया; आगे हम देखेंगे कि उसके वंशधरों ने इस से कितनी शक्तिमत्ता प्राप्त की। पुरोहित-वंश ने राजवंश को प्रायः तिमिराच्छन्न कर डाला।

जयवर्मा ने ६७ वर्ष राज्य किया, क्योंकि नी ता बाक का के खमेर शिलालेख से मालूम होता है कि उसका उत्तराधिकारी सन् ८६९ में सिंहासन पर बैठा। प्री केव के शिलालेख में हम एक कम्बुजेन्द्र का उल्लेख पाते हैं जिसने सन् ८०२ में राज्याधिकार प्राप्त किया था; अन्य शिलालेखों के अनुशीलन से मालूम होता है कि यह जयवर्मा तृतीय था।

दो उत्तराधिकारी

जयवर्मा चतुर्थ—जयवर्मा चतुर्थ ने, जिसका परम धाम को पहुँचने के बाद का नाम विष्णुलोक था, सन् ८६९ से ८७७ तक राज्य किया।

वृद्ध महाराज की मृत्यु के बाद उनका पुत्र राजकुमार जयवर्द्धन यौवन की प्रथम उषा में सिंहासन पर बैठा और आठ वर्ष से अधिक राज्य न कर पाया। उसकी राजधानी हरिहरालय में थी। शिलालेख बतलाते हैं कि वह "युवा' पुराण शास्त्र में अनुरक्त, सूर्य के समान प्रतापी और सभी वीरगुणों से युक्त था; उसके चरण राजाओं के सिरों पर विश्राम लेते थे।

उसने जंगली हाथियों के आखेट में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। एक खमेर शिलालेख, जो बेंग माला या महेन्द्रपर्वत के खण्डहरों में उपलब्ध हुआ है, उसके एक जंगली हाथी पकड़ने की चर्चा करता है। एक और शिलालेख से जो विशाल झील के दक्षिण में मिला है, मालूम होता है कि उसने तीन हाथी पकड़े। उसके अन्य कामों या पराक्रमों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। मृत्यु ने असमय ही उसकी जीवन-चर्या को समाप्त कर डाला।

इन्द्रवर्मा प्रथम—जयवर्मा तृतीय के वंश का विच्छेद हो जाने से उसके इन्द्रवर्मा नाभी एक दूरवर्ती आत्मीय ने

सिंहासन पर अधिकार किया, जिसका नाना रुद्रवर्मा मृत राजा जयवर्मा चतुर्थ की माता का मामा था। यह बात हमें बाकु के मन्दिर के शिलालेख से मालूम होती है। यह शिला लेख हमें बतलाता है कि चारों ओर उसकी वीरता का आतङ्क छा गया था, उसकी लपलपाती हुई तलवार के सामने कोई न टिक सकता था। किन्तु शत्रु के पराङ्मुख हो जाने अथवा अभय की प्रार्थना करने पर वह अपने हृदय की महानुभावता का परिचय देता था। सन् ८७७ में जब श्री इन्द्रवर्मा ने राज्याधिकार को ग्रहण किया तब से प्रजा की सुख और समृद्धि की निरन्तर वृद्धि होती गई। राज्य पाते ही उसने प्रतिज्ञा की कि आज से पांच दिन के भीतर तड़ाग आदि खोदने का काम आरम्भ किया जावेगा। सन् ८७९ में उसने तीन शिवमूर्तियाँ और तीन दुर्गा की मूर्तियाँ स्थापित कीं।

इस शिलालेख के खमेर-भाग से हम मालूम करते हैं कि इन्द्रवर्मा ने मन्दिर की छः अट्टालिकाएं अपने देवीभूत पूर्वजों को समर्पित कीं। सामने की पंक्ति की तीन अट्टालिकाएं क्रम से पृथ्वीन्द्रेश्वर, परमेश्वर और रुद्रेश्वर को विनियुक्त की गई हैं। पृथ्वीन्द्रेश्वर राजा के पिता पृथ्वीन्द्रवर्मा का पारमार्थिक नाम है जिसका यहाँ शिव से तादात्म्य किया गया है। परमेश्वर—जो शिव का भी एक नाम है– जयवर्मा तृतीय का और रुद्रेश्वर (शिव का एक और नाम) राजा के नाना रुद्रवर्मा का दिव्य नाम है। दूसरी पंक्ति की दो अट्टालिकाएं क्रम से पृथ्वीन्द्रदेवी और धवनीन्द्र-देवी को समर्पित की गई हैं। इस पंक्ति की तीसरी अट्टालिका का शिलालेख अप्राप्य है। ये

स्त्री-नाम दोनों ही देवी दुर्गा और पृथ्वीन्द्रवर्मा और जयवर्मा की पत्नियों के वाचक हैं। ये अट्टालिकाएं शिव की उन तीन मूर्तियों और दुर्गा की उन तीन मूर्तियों के प्रतिष्ठा-भवन थीं जिनका उल्लेख संस्कृत शिलालेख में हुआ है। इस प्रकार यहाँ राजा के पिता, मातामह और जयवर्मा तृतीय इन तीन रूपों में शिव की उपासना की जाती थी।

बयाँग का शिलालेख—बयाँग में इन्द्रवर्मा का एक और शिलालेख मिला है जिसमें उसके सन ८७७ में सिंहासनासीन होने, उसकी तलवार भयावह मारात्मकता और उसकी पराक्रमशीलता का उल्लेख है। यहाँ उसने एक सुन्दर समलँकृत शिव मन्दिर की स्थापना की थी और अतिथियों की सुविधा के लिए दो आश्रम बनवाये थे जिन में सुखोपभोग के सारे सामान रक्खे गये थे।

बाकाँग का मन्दिर—बाकाँग के मन्दिर में आठ मीनारों में से पाँच के नीचे इन्द्रवर्मा के पाँच शिलालेख मिले हैं। प्रत्येक में बाकु के शिलालेख के राज-स्तुति विषयक पहले आठ श्लोक अक्षरशः उद्धृत किये गये है; इससे आगे सहसा विच्छिन्नता आ जाती है। शिलालेख का उद्देश्य तक उसमें नहीं दर्शाया गया है। तो भी बाकाँग एक भव्य स्मारक है, पिरामिड की आकृति के उन महान् निर्माणों में प्रथम है जो खमेर वास्तुकला के उत्कृष्ट युग की विशेषता हैं। शिलालेख की अपूर्णता से ऐसा प्रतीत होता है कि मन्दिर बनते ही छोड़ दिया गया था। इस भवन में, एक के ऊपर दूसरी, वालुकापत्थर की

अट्टालिकाएँ हैं। चारों ओर चार सोपान परम्पराएं चालीस सिंहों से सजी हुई हैं, जो ऊपर की ओर परिमाण में उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं। बीस बड़े 'मौनोलिथ' हाथी, जो ऊपरले आवासों में क्रम से छोटे-छोटे होते जाते हैं, अट्टालिकाओं के कोनों पर रक्खे हुए हैं। आठ सुन्दर ईंट के बुर्ज मुकुट रूप से इस पिरामिड की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह मन्दिर एक विस्तीर्ण घेरे के मध्य में है जो दीवार और खाई से परिवृत है। खाई को पार करने के लिए सेतुबन्ध बने हुए हैं, जो बहुशिरस्क नागों के कंगूरों से अलंकृत हैं।

बाकु का मन्दिर—बाकु के मन्दिर में जिसका पहले उल्लेख हो चुका है, छः ईंट के बुर्ज़ हैं जो बाकांग के बुर्ज़ों की अपेक्षा परिमाण में छोटे और कल्पना में शालीनतर हैं। ये दोनों खण्डहर अंगकोर थाम की दक्षिण-पश्चिम ओर लगभग दस मील की दूरी पर तत्कालीन राजधानी हरिहरालय के परिसर में हैं।

इन्द्रवर्मा की कला—इन्द्रवर्मा के राजत्वकाल की वास्तुकला में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनके कारण फ्रेंच इन्दो-चीन के पुरातत्त्वविभाग के अध्यक्ष श्रीयुत पारमाँतिए ने उसे वास्तुकला की एक पृथक् सरणी—*'इन्द्रवर्मा की कला'*—माना है। जयवर्मा तृतीय के राजत्वकाल की वास्तुकला की अपेक्षा वह आरम्भिक ख्मेर कला—फूनान की कला से कहीं अधिक मिलती जुलती है। ईंट के बुर्ज इन्द्रवर्मा के समय और आरम्भिक फूनान—काल दोनों ही में पाये जाते हैं। किसी मन्दिर
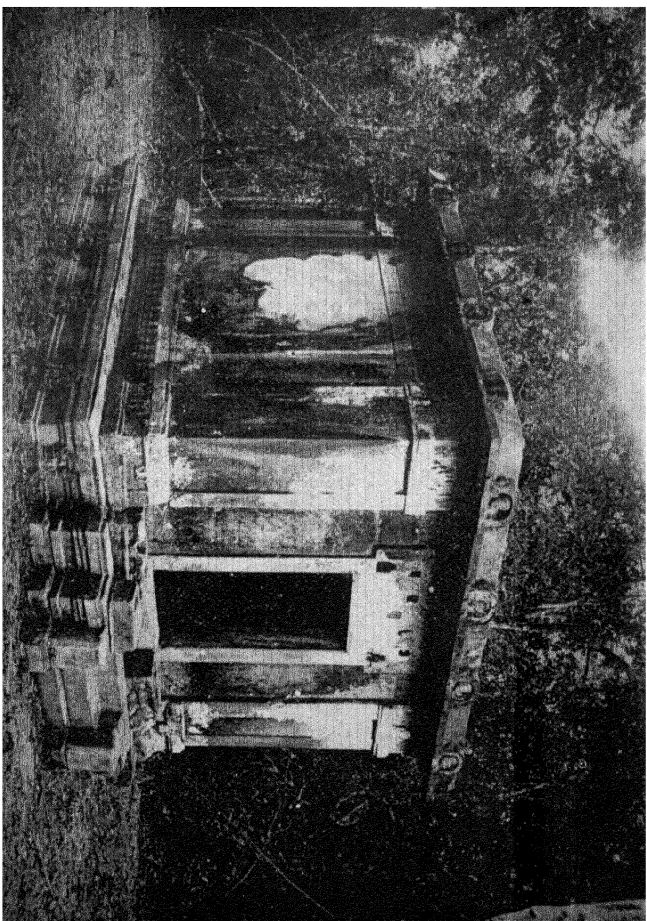
शम्भुपुर से ।

के भिन्न भिन्न भागों तक पहुँचने के लिए इस काल में कोई गैलरियाँ नहीं हैं, जो अँगकोर थाम और अँगकोर वाट के उत्तर-कालीन स्मारकों के विशेष अँग हैं। आरम्भिक फूनान-काल के निर्माणों की भाँति इस समय के भवन भी एक विस्तृत क्षेत्र में न फैल कर अन्तरिक्ष की ओर बढ़ते जाते हैं। अलंकरण-कला का, जो उदाहरणार्थ अंगकोर थाम के प्रधान मन्दिर बेयोन की किसी भी सतह को असंपृक्त नहीं छोड़ती, इस काल में पर्याप्त प्रचार नहीं हुआ है, यद्यपि फूनान की नंगी अनलंकृत सतहों की शैली की यहाँ अवहेलना की गई है। इन्द्रवर्मा के राजत्वकाल की अलंकरण-कला काष्ठ-तक्षण से मिलती जुलती है जब कि उत्तरकालीन शैली चित्र-लेखन की भाँति पुष्कल हो जाती है।

इन्द्रवर्मा सन ८८९ में परलोक को सिधारा और उसका पारमार्थिक नाम ईश्वरलोक पड़ा।

इन्द्रवर्मा के समय की लिपि—उसके पुत्र यशोवर्मा के राजत्वकाल में—जो कम्बोडिया के इतिहास में युग-परिवर्तन का समय है—प्रवेश करने से पहले यहाँ पर इन्द्रवर्मा के समय की लिपि की कुछ विशेषताएं दर्शाई जाती हैं। यह एक याद रखने की बात है कि जयवर्मा तृतीय के कोई समकालीन शिलालेख नहीं पाये जाते। केवल उत्तरकालीन वंशावलियों इत्यादि से हम उसको जानते हैं। अतएव जयवर्मा द्वितीय के शिलालेखों के बाद, जो सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राज्य करता था, इन्द्रवर्मा के शिलालेख प्रथम सरकारी लेख

हैं। इन दो शताब्दियों के भीतर अक्षरों की आकृति में विशेष परिवर्तन आ गया था। उनके स्वरूप में गोलाई आ गई थी, उदाहरणार्थ 'व' प्रायः एक पूर्ण वृत बन गया था। वक्ररेखाएं अधिक ललित हो चुकी थीं। आभरण-भङ्गुरताएं कुछ हद तक विकसित हो चुकी थीं, यद्यपि वे निर्विशेषतया सभी अक्षरों के ऊपर नहीं रक्खी गई थीं जैसे कि वे अगले राज्य में रक्खी जावेंगी। निःसन्देह इससे कलाविषयक प्रभाव की पुष्टि होती थी किन्तु साथ ही अक्षरों को एक दूसरे से पहचानने की कठिनाई भी उपस्थित हो जाती है। इस काल में जिह्वा-मूलीय और उपध्मानीय बिल्कुल प्रयोग से बाहर हो चले थे। द और ड, ब और व में कई बार अस्तव्यस्तता लाई गई है। ब के स्थान में अकसर व का प्रयोग किया गया है। किन्तु भाषा बिल्कुल शुद्ध है और तक्षण करने वाले को कोई दोष नहीं दिया जा सकता।

——:o:——
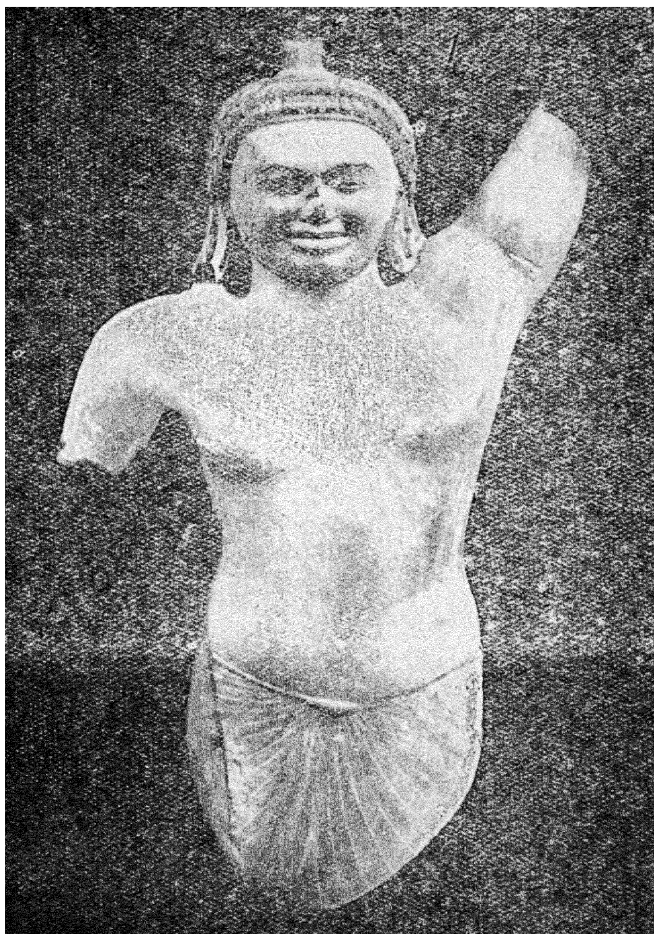
एक अद्भुत मानवी मूर्ति ।

यशोवर्मा।

भरत राहु का विद्रोह—महाराज इन्द्रवर्मा के पश्चात् सन् ८८९ में उसका यशस्वी पुत्र यशोवर्द्धन श्री यशोवर्मा नाम से सिंहासन पर बैठा। अपनी माता महारानी इन्द्रदेवी की कुलीनता के कारण अपने पिता के अभिषेक-काल से ही उसका अनाबाध इल सौभाग्य-शिखर पर पहुंचना निश्चित था। तथापि राज्य पाते ही उसे विद्रोह का सामना करना पड़ा। बाँटेई कुमर का खमेर शिलालेख हमें बतलाता है—"जब भारत राहु सम्बुद्धि ने महाराजाधिराज यशोवर्मा के विरुद्ध विद्रोह किया और राजमहल पर आक्रमण किया तो राजधानी से सारी सेनाएं भाग निकलीं। महाराज स्वयं लड़ने के लिए बाहर निकले। सञ्जक अर्जुन और सञ्जक श्रीधरदेवपुर महाराज के शरीर की रक्षा करते हुए शत्रु से लड़ते रहे और उनकी आँखों के सामने ही धराशायी होगये।" भरत राहु के विद्रोह को दबाने के बाद यशोवर्मा ने अपने राजभक्त अंगरक्षकों के परिवारों को धन, प्रतिष्ठा आदि के रूप में पुष्कल पुरस्कार दिया और उनकी प्रतिमाएं स्थापित करवाईं। सम्भवतः जयवर्मा चतुर्थ के परिवार के कुछ व्यक्तियों ने इस विद्रोह को प्रोत्साहना दी थी। भविष्य में राज्य को विद्रोहिओं के छिद्रान्वेषणों से सुरक्षित रखने के लिए यशोवर्मा ने एक सुसंगठित गुप्तचर विभाग स्थापित किया।

एक प्रतापी सम्राट—उसकी शिक्षा का भार मुनिवर सोमशिव के शिष्य वामशिव नामी एक ब्राह्मण को सौंपा गया था जो इन्द्रवर्मा का भी उपाध्याय था । सिंहासन पर बैठते समय यशोवर्मा की आयु बीस बर्ष से अधिक न रही होगी । उसके शिलालेख उसके युवापन का निर्देश करते हैं । जो कुछ भी हो, वह कम्बोडिया के महान् प्रतापी सम्राटों में से एक था । उसीके शासनकाल में खमेर वास्तुकला उत्कर्ष की पराकाष्ठा को पहुंची थी । उसके बीस वर्ष के राजत्वकाल में अनेकों घटनाएं घटित हुई । अनेकों राजमहल और मन्दिर बने, अनेकों मूर्तियाँ स्थापित की गई । अँगकोर थाम या यशोधपुर का विश्रुत नगर उसीके सराहनीय प्रयास का फल है ।

यशोवर्मा का चरित्र—उसके शिलालेख हमें बतलाते हैं कि यशोवर्मा विभूतिमत्ता का अनुपम पुञ्ज था । वह विद्वानों के लिए गुरु, रमणियों के लिए साक्षात कामदेव और राजाओं के लिए महेन्द्र था,—

"गुरुः मूरिवरैस्सर्व्वैर्ध्वरस्त्रीभिर्म्मनोभवः ।
महेन्द्रो धरणीनाथैर्य्य एकोऽप्येवमीरितः ॥"

उसके सौन्दर्य के विषय में कवि कहता है—

"दग्धांगस्याप्यनंगस्य स्थितं सौन्दर्य्यजं यशः ।
दग्धुमिव रुद्रेण यो नु कान्ततमः कृतः ॥"

....

"यस्यांगसंगिसौन्दर्य्यविसरह्लादिता रतिः ।
स्वभर्तृवधवैधव्यँ जहौ सा वञ्चनामिव ॥"

कामदेव का पार्थिव शरीर जलकर क्षार हो चुका था किन्तु उसका रूपलावण्य से उत्पन्न हुआ यश अभी तक बना हुआ था; मालूम होता है शिव को यह भी सह्य न हुआ। तभी तो यशोवर्मा जैसे "असामान्यसौन्दर्य" कान्ततम व्यक्ति की सृष्टि करवाई। और तो क्या वैधव्य-विधुर-हृदया रति भी उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपनी अन्तर्वेदना को भूल गई।

उसके मुख-मण्डल की समता करने वाला यदि आज तक किसी भी व्यक्ति का मुख हुआ होता तो चन्द्रमा से उसकी तुलना क्यों की जाती; चन्द्रमा बेचारा स्वयं शरमा न जाता ?

"येन तुल्य भवेद्वक्त्रमेकस्यापि पुरा यदि ।
मुखोपमानतां चन्द्रो नानीयेत विपश्चिता ॥"

यशोवर्मा सम्राट् समुद्रगुप्त के समान भली भाँति कृतविद्य और व्युत्पन्न था। जिस वाक्-सन्दर्भ में उसकी कृतविद्यता का वर्णन किया गया है वह हमें इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख की याद दिलाता है, --'विज्ञान और कला, भाषाओं और लिपियों नृत्य और संगीत; आदि में वह ऐसा निपुण था मानो वही आदि आविष्कर्ता रहा हो,—

"यः सर्व्वशास्त्रशस्त्रेपु शिल्पभाषालिपिष्वपि ।
नृत्तगीतादिविज्ञानेष्वादिकर्त्तेव पण्डितः ॥"

वह भाषा का पूर्ण पण्डित था; उसने पातञ्जल महाभाष्य पर एक टीका लिखी—

"नागेन्द्रवक्त्रविषदुष्टतयेव भाष्यं
मोहप्रदं प्रतिपद किल शाब्दिकानाम् ।
व्याख्यामृतेन वदनेन्दुविनिर्गतेन
यस्य प्रबोधकरमेव पुनः प्रयुक्तम् ॥"

उसके उत्तराधिकारियों के शिलालेख भी उसकी बहुविध तत्त्वसिद्धियों की सराहना करते हैं । उसने स्वयं अपने नाम का विग्रह इस प्रकार किया है—श्री=लक्ष्मी, यशस्=कीर्ति, वर्मन्=कवच; वह सौभाग्यशाली पुरुष, यश जिसका कवच है ।

केवल मानसिक गुणों और रूप श्री के ही कारण नहीं किन्तु बाहुबल की दृष्टि से भी वह अलोक-सामान्य था । दाहिने और बायें दोनों हाथों से प्रेरित बाणों के द्वारा उसने जय श्री को ग्रहण किया । तलवार के एक मात्र प्रहार से उसने एक मोटे सख़्त ताम्बे के डंडे के तीन टुकड़े कर डाले । केवल अपनी बाईं भुजा से उसने एक मदमस्त हाथी को मार डाला; मानों इस प्रकार वह सिंह का उपहास करना चाहता था, जिसे हाथी को मारने के लिए अपने दोनों अगले पंजों की ज़रूरत है ।

क्या यह सम्भव नहीं कि यह वही सम्राट् है जिसे हम कई तक्षण किये हुए दृश्यों में देखते हैं ? कई वार हम एक तरुण और शोभनाकृति, वीर और शक्तिशाली, नृप का साक्षात् करते हैं । वह बिना किसी शस्त्र के एक सिंह पर आक्रमण
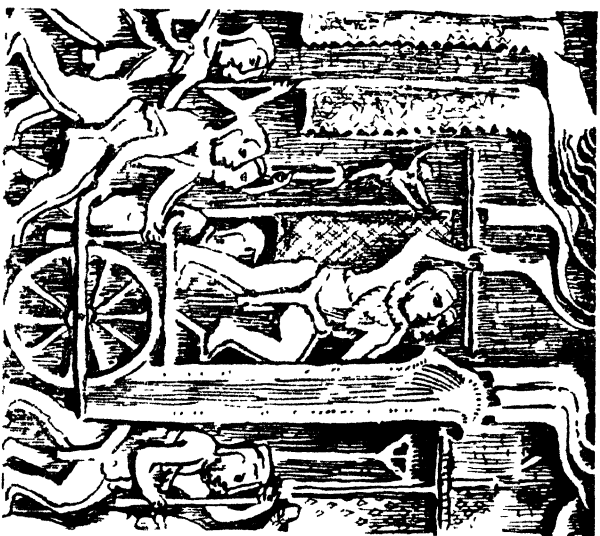
युद्ध-यन्त्र और ध्वजाएं।
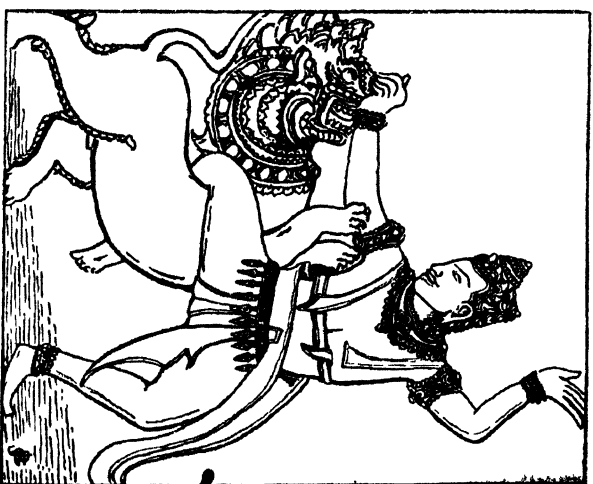
यशोवर्मा (?)

करता है। उसने अपनी दाहिनी टाँग को इस हिंस्र जन्तु की पीठ पर अड़ा लिया है और अब दाहिनी मुट्ठ से उसके भीषण सिर को पीछे फिरा कर उसकी कमर को तोड़ता है। वह मल्लयुद्ध में इतना तगड़ा था कि उसने एक ही क्षण में दस मल्लों को उठा कर जमीन पर पटक दिया, जिससे वे सब छटपटाने लगे।

यशोवर्मा की कुल परम्परा—यहाँ पर यशोवर्मा का कुल-परिचय करा देना भी उचित होगा। उसकी कुल परम्परा का विशद वर्णन प्राह बाट के शिलालेख में इस प्रकार दिया गया है,—'अनिन्दितपुर राजकुल का पुष्कराक्ष नामी एक वंशज था, जिसने शम्भुपुर का राज्य प्राप्त किया था और जो उस की माता के मामे का मामा था जिसने महेन्द्रपर्वत पर अपनी राजधानी स्थापित की थी।

'इस राजा के कुल में एक राजेन्द्रवर्मा उत्पन्न हुआ था जिसका मातृवंश व्याधपुर में राज्य करता था और जो स्वयं वहाँ का राजा बना था और जिसने बाद को शम्भुपुर का राज्य भी प्राप्त किया था। उसने राजकुमारी नृपतीन्द्रदेवी से विवाह किया जिससे उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो महीपतिवर्मा (जयवर्मा) नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'आर्यदेश से द्विजवर अगस्त्य कम्बोडिया में पधारा था। वहाँ उसने राजकुमारी यशोमती से विवाह किया जिससे उसके नरेन्द्रवर्मा नामी एक पुत्र पैदा हुआ। नरेन्द्रवर्मा की नरेन्द्रलक्ष्मी नाम्नी एक पुत्री थी जो राजपतिवर्मा को व्याही

गई थी; इस नव दम्पती की राजेन्द्रदेवी नाम्नी कन्या महीपति-वर्मा को व्याही गई थी । राजेन्द्रदेवी से महीपति वर्मा की इन्द्रदेवी नाम्नी एक अति रूपवती पुत्री उत्पन्न हुई; यही यशोवर्मा की माता थी ।

यशोवर्मा के यश के विषय में कवि कहता है,—

"यस्य भ्रमति सर्व्वत्र यशश्चन्द्रांशुनिर्म्मलम् ।

प्रतापशोषणभयाद्दग्धाब्धिरिव दिङ्मुखे ॥"

चम्पा के विरुद्ध प्रस्थान—राज्य के सुव्यवस्थित करने के बाद श्री यशोवर्मा को विजय-स्वप्न आने लगे । इस स्वप्न को यथार्थता का रूप देने के लिए उसने अच्छी तैयारियाँ कीं । स्थल-सेना के अतिरिक्त उसने जल सेना भी संगठित की । वह हमें बतलाता है कि उसके असंख्य जंगी जहाज थे ।

"नौकार्व्बुदं येन जयाय याने

प्रसारितं सीतसितं समंतात् ।

भिन्नं महाब्धौ मधुकैटभाभ्या

ब्रह्माम्बुजस्येव दलार्व्बुदं प्राक् ॥"

खेद है कि इस विजयी सम्राट् ने अपनी विजय-यात्राओं का कोई विशेष उल्लेख नहीं किया । केवल चम्पा के सम्बन्ध में दो तीनेक बातें बतलाई गई हैं; किन्तु यहाँ उसकी विजय क्षणिक थी, उसका डंका बजते न बजते यशोवर्मा के जातीय शत्रु वीर चाम अपने गौरव की रक्षा के लिए सहसा उठ खड़े हुए ।

"राजा (यशोवर्मा) ने पूर्व की ओर चम्पा द्वीप पर आक्रमण किया। फिर उसने उस दुर्ग को छीना जिसे चम्पा के राजा श्री जय इन्द्रवर्मा ने वेक पर्वत पर बनवाया था। राजा के स्थान पर उसने चम्पा के एक सेनापति को सिंहासनासीन किया। चम्पा की प्रजा उसकी घात में जा छिपी और उसने राजा को घेर लिया। उनके सारे बारह सैन्यदल पछाड़े जाते रहने पर भी निरन्तर लड़ते रहे राजा को अपनी सेना सहित लड़ते लड़ते त्रयचर पर्वत को पीछे हटना पड़ा इस पर्वत पर चम्पा के सैन्यदलों ने उसे घेर लिया और उनके शिरोवेष्टन पहने हुए योधाओं ने उस पर आक्रमण किया, किन्तु उनके इकतीस आदमियों को छोड़ कर बाकी सब मारे या घायल किये गये। राजा नीचे उतरा और लड़ता हुआ पर्वत के आधार पर पहुँचा जिसको शत्रु घेरे हुए था। किसी ने उनसे भिड़ने का साहस नहीं किया। सञ्जक श्रीदेव और सञ्जक श्री वर्धन ने, जिनके घराने राजा की सेवा करने के लिए धर्म-वचन दे चुके थे और जो विजयपुर देश से वहाँ आये थे, राजा से प्रार्थना की कि उन्हें अपनी आँखों के सामने अपने प्राणों की बलि देने दे। चम्पा की सेना ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और वचन के धनी वे दो राजभक्त सेवक बुरी तरह घायल होकर धराशायी हो गये। राजा ने राजसी ठाट से उनका अन्त्येष्टि कर्म किया। राजा लगातार लड़ता हुआ अपनी सेना को वापिस लाया। कम्बोडिया को लौट आने पर उसने मृत सञ्जकों की प्रतिमाएं स्थापित करवाईं और उन्हें "आमटेन" का पारमार्थिक नाम प्रदान किया।"

उसके राज्य का विस्तार—सन् ६४८ का एक शिला लेख यशोवर्मा की चर्चा इस प्रकार करता है—"इन्द्रात्मज, अनन्य सामान्य, प्रतापशाली,—वह जगत् का परम अधीश्वर था, जिसकी सीमाएं सूदमस्कम्रात (पीगू प्रदेश में), समुद्र, चीन और चम्पा थीं।" इससे हमें यशोवर्मा के साम्राज्य के विस्तार का करीब करीब यथार्थ विवरण प्राप्त होता है। उसका शासन चीन के पर्यन्तों से बर्मा तक फैला हुआ था और इस प्रकार उसमें कम्बोडिया के अतिरिक्त लाओस, अनाम, सियाम और बर्मा सम्मिलित थे।

उसके शासन और शिलालेख—उसकी सामरिक चर्या को छोड़ कर अब ज़रा उसकी शान्ति-काल की कलाओं की ओर भी एक दृष्टि डालें। यशोवर्मा जैसा महेन्द्र और अति व्युत्पन्न सम्राट् केवल शस्त्रों से प्राप्त की हुई कीर्ति से ही सन्तुष्ट नहीं रह सकता था। वह वास्तुकला से रुचि रखता था और अपनी महतीचर्या के आरम्भ ही से उसने अपने स्वप्नों को कार्य रूप में परिणत करने में अपना मन लगाया। सिंहासनाधिरूढ़ होते ही इस नववयस्क उत्साही सम्राट् ने अपने साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में पत्थर पर अङ्कित किये हुए बारह घोषणा प्रतियाँ भेजीं जिनका अभिप्राय प्रजा को एक महती घटना से सूचित करना था। यह महती घटना यशोधरपुर में 'बेयोन' नामी भव्य शिव-मन्दिर की प्रतिष्ठापना थी।

एक नवीन वर्णमाला—ये घोषणा-पटल दो पृथक् लिपियों में लिखे गये हैं। कम्बोडिया की साधारण लिपि के

अतिरिक्त, जो आरम्भ में दक्षिण भारत से वहाँ गई थी, यशो-वर्मा ने यहाँ एक और विचित्र लिपि का प्रयोग किया, जिसका प्रचार उसका अपना व्यक्तिगत काम था और जो उसकी मृत्यु के साथ ही अन्तर्हित हो गया। इस नवीन वर्णमाला की विशेषता पुष्पालंकरण युक्त लम्बाकार नुकीले अक्षर हैं जिनके कोनों को आश्रित परिशिष्ट व्यापृत किये हुए हैं; इस प्रकार ये अक्षर एक पूर्ण जंजाल में घिर जाते हैं। यह नई वर्णमाला आरम्भ में उत्तर भारत से गई थी और बहुत पहले से मद्रास में इस्तेमाल की जाती थी। वहाँ से वह जावा को पहुँची जहाँ उसका विकास रुक गया और जहाँ उसका नमूना कलनसन के ७७८ के बौद्ध शिलालेख में देखा जा सकता है। जावा से उसने कम्बोडिया की यात्रा की। श्रीयुत ऐमोनिए कहते हैं कि तत्-कालीन कम्बोडिया पर जावा के प्रभाव का यह भी एक प्रमाण है।

ये द्विमुखी शिलालेख प्रशंसनीय ढँग से खुदे हुए हैं। इससे अधिक ललित और कष्टसाध्य और कुछ नहीं हो सकता था।

राजगुरु सोमशिव और वामशिव—अपनी और अपने पूर्वजों की प्रशंसा में किसी भी पूर्वकालीन राजा ने इतने अधिक शिलालेख नहीं खुदवाये थे। इन शिलालेखों के रचयिता सम्भवतः राजगुरु और पुरोहित—वृद्ध सोमशिव और उसका नववयस्क शिष्य वामशिव—थे। ये दोनों ही वास्तुकला के बड़े प्रेमी थे और बहुत कुछ हद तक तरुण सम्राट् में महती वास्तुकला की रुचि पैदा करने का श्रेय भी इन्हीं को है।

वृद्ध सोमशिव जयवर्मा परमेश्वर के भव्य राजत्व-काल को देख चुका था और इन्द्रवर्मा का गुरु रह चुका था ।

ये शिलालेख यशोवर्मा की गाढ़ धर्मनिष्ठा प्रदर्शित करते हैं और तत्कालीन कम्बोडिया में हिन्दू धर्म के विकास पर अच्छा प्रकाश डालते हैं ।

यशोवर्मा का उपास्य देव—यशोवर्मा शिव का परम भक्त था । लोली के मन्दिर का शिलालेख इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है, —"नरेन्द्रराज यशोवर्मा जिसने शक संवत् ८११ में राज्य प्राप्त किया, यह सब कुछ—किंकर आदि—स्वस्थापित परमेश्वर को समर्पित करता है । वह दानियों में अग्रणी समस्त भावी कम्बुजभूपतीन्द्रों से वार वार अभ्यर्थना करता है कि आप इस धर्मसेतु की परिपालना करें । आप, जो यशःशरीरी हैं, कर्तव्य के लिए प्राणों पर खेलने को सदा तत्पर हैं, अपने सिर को ऊँचा उठाए रखनेवालों में वरिष्ठ हैं, क्या आप देवस्व की चाहना कर सकते हैं ? गोप्ताओं की उपस्थिति में जो अपने आपको नेकनियत दिखलाते हैं किन्तु अवसर मिलते ही देवद्रव्य के अपहरण करने से नहीं चूकते उनसे इसकी रक्षा करो । सत्य-युग में भी तो अमृत को चुराने के लिए राहु ने देव-वेश धारण किया था । जिस प्रकार विष्णु ने राहु और उस जैसों को अभिभूत करके देवताओं और अमृत की रक्षा की, उसी प्रकार आप भी चोरों को मार कर देव और देवस्व की रक्षा करें । मैं भली भाँति जानता हूँ कि माँगना मौत है—विशेष कर राजा के लिए, तथापि धर्म के निमित्त मरना भी

प्रशंसनीय है। अतः मैं आप जैसे त्यागियों से याचना करता हूँ। राजकुमारों, मन्त्री आदिओं को निवेदन इत्यादि से उसकी रक्षा करनी चाहिए। आपको, जो स्नेहशील और विद्वान् हैं, राजा यह परिपालना आदि का भार सौंपता है।"

यशोवर्मा का उपास्य देव शिव एक सच्चिदानन्द दार्शनिक तत्त्व है जो माया-जगत के आरम्भ में अपने आनन्द के लिए ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन रूपों को धारण करता है और युगान्त में फिर केवलात्मा को प्राप्त हो जाता है—

"प्राक्केवलोऽपि भगवान् रतये त्रिधा यो,
भिन्नश्चतुर्म्मुखचतुर्भुजशम्भुमूर्त्तिः।
प्रारम्भ एव भुवनस्य पुनर्य्युगान्ते,
कैवल्यमेति च शिवाय नमोऽस्तु तस्मै ॥"

शक सम्वत् ८१७ का फ्नौम संदक शिलालेख यशोवर्मा के राजत्वकाल पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। इसमें शिव, महावराह, विष्णु, ब्रह्मा, गौरी और सरस्वती सब ही को नमस्कार किया गया है। ये देव और देवियाँ उस समय तक कम्बोडिया में लोक-प्रिय हो चुके थे और ख्मेर लोग उनकी उपासना करते थे। किसी हिन्दू के लिए किसी एक ही देवता की उपासना करने का कोई नियन्त्रण नहीं था। कम्बोडिया के लोग अनाबाध सभी प्रधान हिन्दू देवी देवताओं को पूजते थे। शैव, वैष्णव आदि साम्प्रदायिक भेदभाव का प्रादुर्भाव वहाँ न हुआ था। हृदय को संकीर्ण और कुंठित कर देने वाली

हठधर्मता का उदय वहाँ न होने पाया था, धार्मिक दुराग्रह कम्बुज-क्षितिज को कलुषित न कर सका था।

इन्द्रतटाक में प्रतिमा-स्थापन—अपने माता पिता की पुण्याभिवृद्धि के लिए यशोवर्मा ने श्री इन्द्रतटाक-द्वीप में शिव और पार्वती की चार प्रतिमाएँ स्थापित कीं। यह तटाक उसके पिता इन्द्रवर्मा ने खुदवाया था। लोली के मन्दिर का खमेर शिलालेख हमें बतलाता है कि मन्दिर के सामने के दो बुर्जों पर जो शिव-प्रतिमाएं थीं उनके नाम क्रम से इन्द्रवर्मेश्वर और महापतीश्वर थे। अतएव यहाँ भी शिव के रूप में राजा के पिता और मातामह, इन्द्रवर्मा और महापतिवर्मा, की दिव्याराधना होती थी। दूसरी पंक्ति के दो बुर्जों में भवानी की दो प्रतिमाओं के नाम इन्द्रदेवी और राजेन्द्रदेवी—क्रम से राजा की माता और मातामही—थे। इस प्रकार पिछले राज्य के बाकु के मन्दिर की भाँति यहाँ भी पितृ-पूजन और देवाराधना को एकत्र सन्निहित किया गया था।

यशोधराश्रम—अपने पिता की भाँति यशोवर्मा ने भी एक सुन्दर तटाक बनवाया जिसका नाम यशोधरतटाक था। उसके राजत्व-काल में आश्रमों की संस्था भी विद्यमान थी। उसने स्वयं यशोधराश्रम की स्थापना की थी जहाँ बेयोन का प्रसिद्ध मन्दिर है। शिवमन्दिरों के लिए उसने जो शासन खुदवाये वे भी उल्लेखनीय हैं—"रत्न, काञ्चन, रूप्य, गाय, भैंस, घोड़े हाथी, पुरुष, स्त्री, उद्यान आदि जो कुछ भी श्रीयशोवर्मा भूपति ने आश्रम को दिया है उसे राजा या कोई अन्य व्यक्ति

अपहरण नहीं कर सकता। राजकुटी के अन्दर राजा, राजपुत्र और ब्राह्मण आभरण पहने प्रवेश कर सकते हैं। सामान्यजन-सेवक-वर्ग—बिना माला धारण किये केवल विनीत वेश में वहाँ जा सकते हैं। वे नन्द्यावर्त पुष्प को अपने साथ ले जा सकते हैं। भोजन खाना, सुपारी चबाना, कलह आदि वर्जित हैं। जन साधारण का प्रवेश भी निषिद्ध है। दुःशील यति वहाँ नहीं लेट सकते। ब्राह्मण, शिव अथवा विष्णु के उपासक, सुशील शिष्टाचार युक्त लोग, जप, ध्यान आदि करने के लिए वहाँ उपवेशन कर सकते हैं। राजा को छोड़ कर आश्रम के सामने जो कोई रथ पर सवार हो उसे उतरना पड़ेगा, छाता ओढ़ कर भी कोई नहीं जा सकता। यह नियम विदेशियों के लिए नहीं हैं। यहाँ जो उत्तम तपस्वी कुलपति नियुक्त किया गया है उसका काम सदा भोजन पान करवाना, पान खिलाना, ब्राह्मण, राजपुत्र, मन्त्री, सेनाधिप, शैव और वैष्णव तपस्वियों और अन्य श्रेष्ठ मनुष्यों का आतिथ्य करना है। उन सबका सत्कार यहाँ दिए हुए क्रम से होना चाहिये।"

इसी तरह के और भी कई शिलालेख हैं जिनमें शिव, गणेश, कार्त्तिकेय, नारायण, रुद्राणी आदि देवताओं को 'शासन' दिये गये हैं। मोरूम के शिलालेख में ब्रह्मराक्षसों को भी एक ऐसा शासन दिया गया है।

जैसा कि उक्त वर्णन से पूर्वाभास हो गया होगा भारतीय जाति-प्रथा ने भी कम्बोडिया में प्रवेश कर लिया था। यशोवर्मा ने उसका फिर से संगठन करने की कोशिश की। जैसा

कि हम पहले देख चुके हैं उसके शासन-काल में आश्रम-संस्था का पुनर्जन्म हुआ। फ़क़ीरों आदि के टिकने के लिए उसने सारे देश में एक सौ उत्तम आश्रम स्थापित किये। सर्वत्र उसकी उदारता और वदान्यता की धूम थी।

आश्रम-नियम—आश्रम में अतिथियों की अर्चा का अनुक्रम इस प्रकार दिया गया है,—

"अथ द्विजोऽधिकं पूज्यः
परेभ्यो बहवो यदि।
प्राप्तास्ते क्रमशः शील-
गुणविद्याविशेषतः॥
राजपुत्राश्च मन्त्री च
बलाध्यक्षश्च सज्जनः।
ते सर्वे पूजनीयाः स्यु-
रानुपूर्व्व्याः प्रयत्नतः॥
मान्यो विशेषतः शूरो
रणे दृष्टपराक्रमः।
रणार्थी त्वरणार्थिभ्यो
धर्म्मरक्षा हि तत्स्थिता॥
शैवपाशुपताचार्य्यौ पूज्यौ विप्रादनन्तरम्।
तयोश्च वैय्याकरणः पूजनीयोऽधिकं भवेत्॥

फिर—

"सामान्यमानवान्सर्व्वान्बालवृद्धरुजान्वितान् ।

दीनानाथांश्च यत्नेन भरेद् भुक्तौषधादिभिः ॥

नित्यं हेमार्चनविधिं विदधीत यथाविधि ।

तृणदानोपचाराभ्यां कपिलामपि पूजयेत् ॥"

बाल, वृद्ध, रुग्ण, दीन, अनाथ, सभी साधारण जनों का आश्रम में भोजन, औषध आदि से यत्न पूर्वक भरण होना चाहिए। हर रोज विधि पूर्वक सुवर्णदान होना चाहिए और एक भूरी गाय की घास और उपचार से पूजा होनी चाहिए।

अगले तीन श्लोकों में उनका पिण्ड-विधान है जो "अपनी राजभक्ति को निभाते हुए युद्ध में काम आए हैं, जो भक्तजन पञ्चत्व को प्राप्त हो गये हैं, जिन मृत पुरुषों का कोई पिण्ड देनेवाला नहीं है।" फिर काक-वलि की भी चर्चा की गई है। आश्रम में हिंसा का सर्वथा—मनसा, वाचा, कर्मणा—निषेध था। उसके अथवा तड़ाग के परिसर में कोई आखेट नहीं कर सकता था। यदि निरपराध मनुष्य आश्रम की शरण लेता था तो वहाँ उसके पीड़क से उसकी रक्षा की जाती थी। दुःशील स्त्रियाँ वहाँ प्रवेश नहीं कर सकती थीं।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास पर एक नया प्रकाश—यों तो यशोवर्मा के शिलालेख में अनेक संस्कृत और प्राकृत लेखकों के नाम आए हैं, रामायण और महाभारत का भी निर्देश हुआ है, परन्तु सबसे अधिक उल्लेखनीय बात सुश्रुत के वैद्यकशास्त्र का निर्देश है।

कवि कहता है—

''सुश्रुतोदितया वाचा समुदाचारसारया।

एको वैद्यः परत्रापि प्रजाव्याधिं जहार यः॥''

सुश्रुत की कही हुई शिष्टाचार-गर्भित वाणी से उस (यशोवर्मा) एकमात्र वैद्य ने प्रजा की, ऐहिक ही नहीं, किन्तु पारलौकिक व्याधि को भी दूर किया।'

सुश्रुत के विषय में विद्वानों की धारणा थी कि वह नवीं शताब्दी से बहुत पीछे हुआ था। यही नहीं, उसके नाम तक पर सन्देह किया जाता था। किन्तु यशोवर्मा का शिलालेख सुदूर पूर्व से स्पष्ट शब्दों में कह रहा है कि उक्त शताब्दी में यह इतना प्रसिद्ध हो चुका था कि उसका यश हिन्द महासागर को भी पार कर गया था।

अँगकोर थाम यशोधरपुर—अँगकोर थाम यशोवर्मा की उदात्त प्रवृत्ति और महेच्छुता का अनपायी कीर्ति-स्मारक है। सदोक काक थाम के शिलालेख से मालूम होता है कि उसका मौलिक नाम यशोधरपुर था। यशोधरपुर का निर्माण-क्रम इस प्रकार है—प्रथम, मध्यस्थ बुर्ज को छोड़ कर, बेयोन का शिव-मन्दिर, फिर परिखाएँ, प्राचीर-बन्ध, कुञ्जगलियाँ और नगर के विशाल फाटक; और अन्ततः बेयोन का विस्मयावह बुर्ज, जिसका नाम *यशोधरगिरि* था—खमेर शिलालेख उसे 'व्राम कण्टाल' (केन्द्रस्थ पर्वत) कहते हैं—और जो "सुन्दरता में मेरु पर्वत की समता रखता था।" वस्तुतः यह

बुर्ज ठीक उस आयत के केन्द्र पर स्थित था जो नगर की सीमाओं को निर्धारित करता था।

परिखा—तीन सौ फीट से भी अधिक चौड़ी और काफ़ी गहरी परिखा अँगकोर थाम को घेरे हुई थी। समय ने उसके विस्तार को कम कर दिया है। अब उसका तल धूसिरत पङ्क से जर्जरीभूत है, जिसमें कंटीली झाड़ियाँ उग आई हैं। उसका एक अंश धान के खेतों में परिवर्तित कर दिया गया है। परिखा से परे तीस बत्तीस फीट की दूरी पर नगर की चारों ओर एक लाइमोनाइट की दीवार थी।

पाँच सेतुबन्ध—नगर वर्ग के आकार में बनाया गया था। जिसकी प्रत्येक भुजा दो मील से भी अधिक लम्बी थी। पाँच अति विस्तीर्ण महत्त्वपूर्ण सेतुबन्ध,—दो पूर्ववर्ती मुख पर से और बाकी अन्य तीन दिशाओं के मुखों पर से, परिखा को पार करते हुए प्राकारबन्ध की दीवार के पाँच विशाल द्वारों तक चले जाते थे। प्रत्येक पार्श्व का कँगूरा एक दीर्घ भर्त्सनावह बहुशिरस्क सर्प के रूप में था जिसे बैठे हुए मल्लों की पंक्ति अपनी भुजाओं में घुटनों के सहारे थाम कर सरल नैसर्गिक ढँग पर क्षीर-सागर के मथन का दृश्य दिखाती थी। प्रत्येक पुल के प्रत्येक कँगूरे पर ५४, दोनों ओर १०८, सब मिलाकर ५४० मल्ल थे।

पाँच विशाल द्वार—इन सेतुबन्धों से परे प्राकार-बन्ध के पाँच द्वार सचमुच वास्तविक स्मारक हैं जिनसे चारुता और भव्यता प्रदर्शित होती है। उनकी अट्टालिकाएँ—जिनकी

सारी ऊँचाई मिलाकर ६५ फीट से भी अधिक थी—प्रवेश-मार्ग के बीस बाईस फीट ऊँचे गुम्बदों को ढके हुई थीं, जिसके दायें बाय दोनों ओर अंग-रक्षक थे। इन फाटकों क विशाल स्थूल कपाट लकड़ी के बने हुए रहे होंगे जो कभी के अन्तर्हित हो चले हैं।

तीन सिर वाले हाथी—द्वार के प्रत्येक पार्श्व में एक तीन सिर वाला हाथी बाहर को निकला हुआ है। केवल उसके शिर और अगले पाँव प्रदर्शित किये गये हैं। एक डोर जिस पर एक घंटी लटक रही है, उसके गले से बन्धी हुई है। उसके चौड़े पैर वालुकापाषाण के बने हुए कमल-दलों और अन्य जल में उगने वाले पौदों को कुचल रहे हैं। उसकी तीन सूँडें जल-पुष्पों के एक स्तवक को तोड़ रही हैं। चूँकि नीचे एक समय परिखा का पानी बहता था, यह व्यक्तीकरण अव्याज-मनोहर और नितान्त नैसर्गिक था। उसकी सूँडें स्तम्भों का काम दे रही हैं। विशाल हौदों पर महाबत बैठे हुए हैं जो अब घिस कर लुप्तप्राय हो चले है और सब के ऊपर एक भीमकाय चतुर्मुख व्यक्ति अथवा ब्रह्मा अपनी अविनाशिनी मुसकान से दर्शक का मुग्ध कर रहा है। उसके भारी अङ्गों से शाश्वतिक दर्शन-चिन्ता झलक रही है। द्वार के अन्दर सर्वत्र सिद्धहस्तता से प्रतिच्छायाएँ प्रदर्शित की गई हैं। मध्यवर्ती गुम्बद पार्श्ववर्ती गुम्बदों से अधिक ऊँचा है।

पाँच वीथियां—पाँचों द्वारों से नगर की ओर पाँच वीथियाँ चली जाती थीं, जिनके पार्श्वों में उद्यान और प्रतिष्ठित जनों के निवास-भवन थे।

पूर्वी मुख के द्वार से जानेवाली वीथिका, जो इस समय *'प्रेत-द्वार'* नाम से प्रसिद्ध है, निःसन्देह एक प्रकार का धर्म-पथ थी, जहाँ से विस्मय-चकित आँखें सामने सीढ़ियों पर के सिंहों और चौपाल-बन्धों पर के बहुशिरस्क नागों के दृश्य और बेयोन के गुम्बदों की उत्तरोत्तर उत्सर्पिणी परम्परा के जंजाल को निहार निहार कर चिन्ता-जड़ होती थीं; जहाँ केन्द्रस्थ बुर्ज अपनी अशेष महत्ता लिये अन्तरिक्ष का मार्ग दिखा रहा था।

नगर के दक्षिणी द्वार से जानेवाली वीथि से भी—जो सम्भवतः वाणिज्य का पथ था—दृष्टि निरन्तर उसी विभूतिमत्ता-युक्त उच्छ्रित बुर्ज और उसके असंख्य पाषाणमुकुटों के पुञ्ज से आकर्षित होती थी; उसका सारा पार्श्विक दृश्य एक बार नज़र फेरने से सामने आ जाता था।

यद्यपि दृष्टि का विषय वही था, पश्चिमी वीथिका से निहारने पर उसका आभास कुछ और ही पड़ता था।

उत्तरी द्वार से चौथी विशाल वीथिका बाईं ओर उद्यान-निचय, जलाशयों और अल्पविस्तर मन्दिरों को—जो इस समय "*प्रेह पीठू*" नाम से विख्यात हैं—छोड़ती हुई नगर के हृदय में प्रवेश करती थी। श्रीयुत ऐमोनिए का विचार है कि "प्रेह पीठू" उस समय हिन्दुओं और बौद्धों का एक *'धार्मिक विद्यापीठ'* एक मठ था। यहाँ से आगे चलकर यह वीथि साढ़े सात सौ गज से भी अधिक लम्बे और करीब १६५ गज चौड़े केन्द्रित प्राङ्गण में विस्तृत हो जाती थी, जिसकी दाहिनी ओर राज-प्रासाद का प्रतिष्ठा-प्राग्भाग और बाईं ओर अनेकों अट्टालि-

अँगकोर थाम का उत्तरी द्वार।
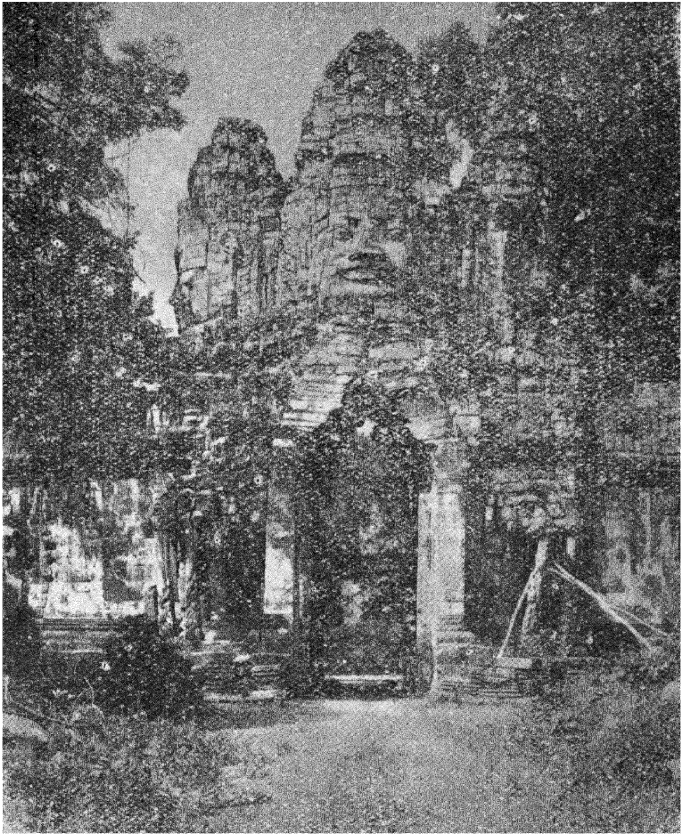
काएँ विद्यमान थीं। अन्य तीन वीथियों की भाँति वह भी बेयोन पर, उसके केन्द्रस्थ बुर्ज के—उस गौरवान्वित पिरामिड के—अक्ष में समाप्त होती थी जहाँ सब कुछ केन्द्राभिमुख था।

राज-प्रासाद के सामने के इस विशाल प्राङ्गण ने कुछ अंश तक विसर्पी उद्भिज्जाल के दुर्निवार आक्रमण को रोक रक्खा है। निःसन्देह उसकी ज़मीन ईंटों और तोड़े हुए खपरैलों के संमिश्रण से कूटी जाकर दृढ़ की गई थी। किन्तु वहाँ के निवासी कहते हैं कि उसकी नग्नता का कारण प्राचीन राजाओं के महनीय निवास के प्रति पेड़ों की श्रद्धा भक्ति और भय है।

अन्ततः उस पवित्र मार्ग के समानान्तर, जिसे हम बेयोन के प्रमुख द्वार की ओर जाते हुए देख चुके हैं, लगभग साढ़े चार सौ गज की दूरी पर एक पांचवीं विशाल वीथिका जो इस समय "विजय-पथ" कहलाती है, पूर्वी मुख पर नगर के पांचवें द्वार से आरम्भ होती थी। यह सीधे केन्द्रस्थ प्राङ्गण और राजप्रासाद के अग्रभाग के मध्य में चली जाती थी।

प्रतिष्ठा-प्राघाण—इस अग्रभाग में प्रतिष्ठा-प्राघाण जो लगभग ३८० गज लम्बा, १५ गज चौड़ा और दस बारह फीट ऊँचा था, राजसभा और राजा के अन्तःपुर के लिए एक विशाल पंडाल की भाँति सजा हुआ था, जहां से वे निम्न प्राङ्गण में की जाने वाली क्रीड़ाओं, संघर्षों और आमोद प्रमोद के दृश्यों से अपना मनोविनोद करते थे। उस पर चढ़ने के लिए नीचे से पाँच सीढ़ियाँ लगी हुई थीं—तीन मध्य में और

दो दोनों पर्यन्तों पर—जो दोनों ओर सिंहों से सजी हुई थीं। प्राघाण के किनारे के कँगूरे पर बहुशिरस्क सर्प उसकी रक्षा में संलग्न थे।

उच्छ्रित प्रतिच्छाया—वालुकापाषाण की विशाल शिलाओं से खचित दीर्घ कपाट, जो प्राघाण को सीढ़ियों से पृथक् करते हैं, कम्बोडिया के 'उच्छ्रित प्रतिच्छायाओं' के तत्तण के अत्यन्त सुन्दर नमूनों में स्थान रखते हैं। प्राघाण के मध्य में सिंह और विशाल गरुड़—जिसके सिर कभी पक्षियों के, कभी व्याघ्रों के जैसे हैं—विद्यमान हैं। फिर हाथियों की पंक्ति आती है, जिनका परिमाण असली हाथियों का तीन चौथाई है और जिनके अङ्ग प्रत्यङ्ग से नैसर्गिकता और उदात्त आकर्षण टपकते हैं; घोड़े, स्वाभिमानी योद्धा—अश्वारोही या पैदल, मल्लयुद्ध करने वाले, आखेट के दृश्य, खेल और संघर्ष, सभी उन प्रदर्शनों और उत्सवों का निर्देश करते हैं जो सचमुच उस पबलिक प्राङ्गण में हुए होंगे।

उत्सेध—कुछ गज उत्तर की ओर इसी दीर्घ प्राघाण के प्रालम्ब में आगे को बढ़ा हुआ एक प्रकार का उत्सेध था जिसका प्रयोजन अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है। उसका स्वरूप क्रूश की आकृति का है जिसकी दीर्घ शाखा पीछे की ओर एक सीढ़ी के द्वारा राज-प्रासाद से सम्बद्ध है। इस उत्सेध के ऊपर अभी तक एक अपूर्व विश्रुत मूर्ति पाई जाती है जो कुष्ठी राजा के नाम से प्रसिद्ध है।

राज-प्रासाद—प्राघाण के पीछे यशोवर्मा का राज-

प्रासाद है । उसकी लम्बाई लगभग ६५० गज और चौड़ाई ३८० गज है लाइमोनाइट की ऊँची दीवारों की एक द्विगुणित परिधि और उसकी मध्यवर्तिनी गहरी परिखा उसको तीन तरफ़ से सुरक्षित किये हुई हैं । पूर्व की ओर प्रतिष्ठा-प्रांगण के पीछे वालुकापाषाण के एक विशाल द्वार के अवशेष विद्यमान हैं; यह एक लालित्यपूर्ण नमूना, वास्तुकला की एक छोटी सी अप्रतिम सृष्टि है, जिसे शायद ग्यारहवीं शताब्दी में सूर्यवर्मा प्रथम ने बनवाया था । दो द्वितीय श्रेणी के दरवाज़े महल के दक्षिण में और दो उत्तर में उसकी सामान्य आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त थे ।

विमानाकाश—इस महल का अध्ययन सदा अपेक्षातिरिक्त रहेगा; उसकी बहुत सी सामग्री उठा ली गई है । उस पवित्र दुर्धर्ष स्थान पर दूर से ही छिपकर भीतचकित दृष्टि डालने वाली और प्रतिष्ठा-प्रांगण से परे उसके धार्मिक पिरामिड के उच्छ्रित भाग को छोड़ कर—जिसके ध्वंसावशेष आज फिमानाक्स (विमानाकाश) कहलाते हैं—और कुछ न देख सकनेवाली तत्कालीन ख्मेर प्रजा से हम इस विषय में आगे न बढ़ सकेंगे ।

अपनी सारी सम्पत्ति और अलंक्रिया से हीन, अत्यन्त उजाड़ हालत में पड़ा हुआ विमानकाश का पञ्जर राजभवन के एक पिछले प्रांगण में ऊपर की ओर उत्तरोत्तर क्षीण होने वाले तीन आवासों का, लाइमोनाइट और वालुकापाषाण का बना हुआ, पिरामिड है । उसका स्थूल आधार पूर्व पश्चिम

को ११५ फीट लम्बा और उत्तर-दक्षिण को ८० फीट चौड़ा है। सारी ऊँचाई लगभग ५० फीट है। चारों ओर सिंहों से सजी हुई सीढ़ियाँ एक तंग गैलरी (गज भर चौड़ी) के क्षुद्र प्रकोष्ठों तक चली गई हैं। इस गैलरी को स्तम्भों के अनेकों झरोखे प्रकाशित करते हैं और वह ऊपर वाली अधित्यका के सारे पर्यन्त पर प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। अधित्यका के मध्य में एक दूसरे स्थूल आधार पर एक अत्यन्त छोटा दिव्य भवन था जो इस समय छिन्न भिन्न पड़ा है।

लोक कल्पना के अनुसार राज-भवन की विश्रुत सुवर्ण अट्टालिका पर, जिसकी चर्चा आरम्भ में की जा चुकी है, एक नौ सिर वाले सर्प की आत्मा—राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी—रहती थी जो हर रात को एक तरुणी स्त्री के वेश में प्रगट होती थी।

——:o:——
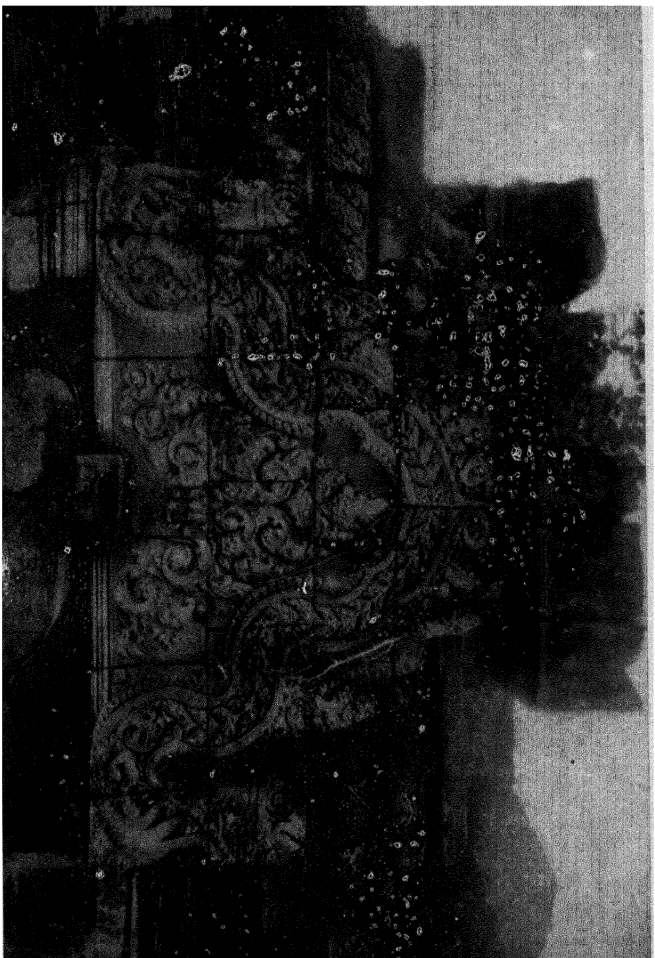
अँगकोर थाम के पूर्व में एक अपूर्ण भवन।

बेयोन का शिव-मन्दिर।

रक्षक सिंह—बेयोन अँगकोर थाम के प्राचीर बन्ध के अन्दर अत्यन्त महत्त्वापूर्ण और सबसे प्राचीन भवन है। एक उद्भिज्जाल के मध्य में, जो अपने पल्लवनिचय के नीचे समय के प्रवाह में क्षीण होते हुए कल्पना-जगत् के देह-धारियों को आश्रय दिये हुए है, शिव-मन्दिर का प्रतिष्ठा-द्वार खुलता है। यहाँ सिंह अपनी पिछली टाँगों पर आधे बैठे हुए हैं। उनके सिर उठे हुए हैं, उनकी पूँछें उनकी पीठ पर विश्रान्ति ले रही हैं, उनकी दाढ़ें खुली हुई हैं और आँखें शाश्वतिक क्रोध को प्रदर्शित कर रही हैं। उनकी गठन में यद्यपि नैसर्गिकता और सौष्ठव का अभाव है—यद्यपि वे प्रकृति की सृष्टि से असंपृक्त हैं, उनका सारा शरीर कुछ झुका हुआ है मानो वे अनधिकृत आगन्तुक पर झपटने के लिए तत्पर हों। नाग, जो जीवित-निरपेक्ष भाव से गरुड़ों के विरुद्ध लड़ाई का नाट्य कर रहे हैं, उन्हें इस काम में सहायता प्रदान कर रहे हैं।

प्लेट-फार्म—यहां नगर के पूर्वी फाटक से एक विस्तृत वीथि एक महत्त्वापूर्ण प्लेट-फार्म को जाती थी जिस पर शिला-पटल बिछे हुए थे और जो मन्दिर का प्रथम निर्माण था। यह प्लेट-फार्म पचपन गज लम्बा और इसका आधा चौड़ा था। उसके किनारे कँगूरे पर स्थित बहुशिरस्क नागों से सजे हुए

थे। वीथिका से प्लेट-फार्म तक सोपान-परम्परा बनी हुई थी और चार पार्श्ववर्तिनी सीढ़ियाँ दोनों पार्श्वों में स्थित दो २ तड़ागों में अवतरण करती थीं। ये सभी सीढ़ियाँ सिंहों से सजी हुई थीं।

तीन अवस्थान और गैलरियाँ—बेयान की आकृति पिरामिड की जैसी है और वह तीन अवस्थानों में विभक्त है जो ऊँची अट्टालिकाओं से सुशोभित हैं। पहला अवस्थान एक आयताकार गैलरी के रूप में है जिसका घेरा साढ़े छः सौ गज से भी अधिक है। उसकी दीवारें प्रतिच्छाया-याओं से आच्छन्न हैं। गैलरी की चारों ओर एक खुला प्लेट फ़ार्म है जिस पर सुन्दर जंगला लगा हुआ है, जिसका कँगूरा बहुशिरस्क सर्पों से अलंकृत है। प्रथम अवस्थान और द्वितीय अवस्थान की गैलरियों के बीच ६० फीट का चौड़ा खुला स्थान है जिसके पूर्वी पार्श्व के दोनों कोनों पर दो छोटे से पृथक् भवन हैं, जिन्हें लोग 'पुस्तकालय' कहते हैं। दूसरी गैलरी, जो पहली से कुछ ऊँची है, सम नहीं है; उसका मध्य भाग उठा हुआ है। इस गैलरी के दो बरामदे हैं, एक भीतर की ओर और दूसरा पहली गैलरी के सम्मुख। यहाँ भी दीवार प्रतिच्छायाओं से आच्छन्न है। दूसरी गैलरी के भीतर एक और गैलरी है जो चतुरस्र नहीं है। उसके मध्य में तीसरा अवस्थान खड़ा है जिसे केन्द्रस्थ बुर्ज मुकुट रूप से अलंकृत कर रहा है।

बुर्ज—यह बुर्ज यद्यपि अभी तक खड़ा है तथापि उसमें बुरी तरह जीर्ण-शीर्णता आ गई है। अपनी १५० फीट का
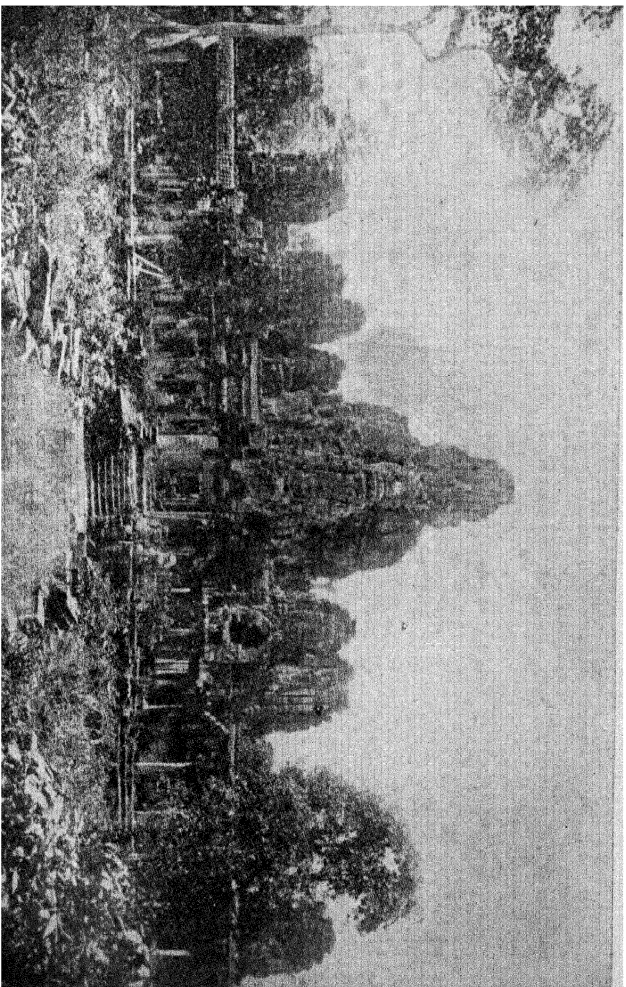
बेयोन का शिव मन्दिर।

ऊँचाई से वह चालीस अन्य बुर्जों के ध्वंसावशेषों को निहार रहा है जो परिमाण में उससे छोटे हैं और चारों ओर से उसको घेरे हुए हैं। सभी बुर्जों की चारों ओर चार मानव-मुख हैं जिनका तक्षण सिद्धहस्तता से किया गया है। वे ध्यानावस्थित शिव को प्रदर्शित कर रहे हैं जिनके कपाल के मध्य में एक तीसरा नेत्र है। उनके केश अति सूक्ष्मता से तक्षण किए हुए हैं और चू ता कूआन के वर्णन से मालूम होता है कि उस समय उन पर सोने का पानी चढ़ाया गया था। अत्यन्त दुर्गम स्थलों पर भी उत्कृष्ट अलंकरण-कला विद्यमान है। बुर्ज के नीचे का अन्धकारमय मन्दिर इस समय खाली पड़ा है। उसके मध्य में एक बड़ा छेद है जो धन लुब्धकों ने खोदा है।

वास्तुकला की अप्रतिम सृष्टि—यह है बेयोन—ख्मेर वास्तुकला की अप्रतिम सृष्टि। यद्यपि वह अँगकोर वाट से छोटा है, उसकी कल्पना में कला का अंश अधिक है और यहाँ की सजावट अधिक सौष्ठवपूर्ण है। किन्तु अँगकोर वाट अधिक अच्छी तरह सुरक्षित है और इसलिए बाह्य संसार को अधिक अच्छी तरह विदित है।

प्रतिच्छायों के दृश्य—प्रतिच्छायाओं में कहीं युद्ध के दृश्य हैं—सेनाध्यक्ष हाथ में धनुष बाण लिये हाथियों पर सवार हैं, साधारण सनिक छोटे छोटे भाले और ढाल लिये हुए हैं, कुछ कमर से रस्सियाँ बाँधे हुए हैं। कहीं दाढ़ी बढ़ाये हुए ब्राह्मण यज्ञोपवीत पहने छाया-वृक्षों के नीचे बैठे हैं। इधर मल्ल अपना द्वन्द्व-युद्ध दिखा रहे हैं, गायक सुन्दर वीणाएँ लिये हुए

हैं और ऐन्द्रजालिक अपने खेल दिखा रहे हैं; उधर एक और स्थान में छज्जे पर एक धोती पहने और एक माला धारण किये राजा विराजमान है। उसकी चारों तरफ़ राजसभासद हैं और छज्जे के नीचे हरिणों, बैलों, गैंडों, खरगोशों इत्यादि का जलूस निकल रहा है। श्मशान के भस्म के पात्रों का बड़े विधान से ले जाया जाना, पालकियों में बैठी हुई राजकुमारियाँ, ढकी हुई बैल-गाड़ियाँ, मछलियों को मारने के दृश्य, समुद्री लड़ाइयाँ, लूट मार की धनराशि से लदे हुए हाथी, शिव के क्रोधानल से कामदेव के भस्मसात् होने का दृश्य, इत्यादि इन प्रतिच्छायाओं में प्रदर्शित किये गये हैं।

क्या बेयोन बौद्ध मन्दिर था—एक हाल ही की खोज में बेयोन की दूसरी गैलरी के प्रकोष्ठों पर कमल-पुष्प पर बैठे हुए अवलोकितेश्वर की मूर्ति उपलब्ध हुई है जिसके सिर पर अमिताभ की प्रतिकृति, हाथों में कमलपुष्प, माला और दर्पण हैं और जो उड़ती हुई अप्सराओं से घिरा हुआ है। श्रीयुत फीनो का विचार है कि बेयोन आरम्भ में महायान बौद्ध मन्दिर रहा होगा जो करुणा के अवतार बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर को समर्पित किया गया था।

यह है अँगकोर थाम का दिग्दर्शन सन् ९०० के लगभग जब यशोवर्मा ने उसका प्रतिष्ठापन किया था। किन्तु यह राजधानी अकेली नहीं थी। यदि अँगकोर वाट जैसे भव्य स्मारक उसमें अभी उत्तराधिकारियों से बनाये जाने को थे तो अन्य विशाल निर्माण अँगकोर थाम की स्थापना से भी पहले बन चुके थे अथवा उसीके निर्माण-काल में बन कर तैयार हुए थे।

प्रा खान—उत्तर की ओर १००० फीट की दूरी पर प्राखान के सुन्दर मन्दिर ने, जो अब भी अपनी अभिनवता से देदीप्यमान है और जिसका विशाल तड़ाग उससे पहले ही बन कर तैयार होगया था, एक छोटे रूप में नई राजधानी की सारी भव्यताओं का पुनरुद्दीरण किया था। भीमकाय महलों और बहुशिरस्क सर्पों की वीथियाँ, सिंहों, गरुड़ों और मानव-मुख की आकृति के अनेकों गुम्बदों का यहाँ आविर्भाव हुआ था।

यशोधरेश्वर—दक्षिण में इतनी ही दूरी पर एक अकेले चट्टानदार पर्वत को पिरामिड की आकृति के एक सौष्ठव-पूर्ण मन्दिर के नैसर्गिक आधार के लिए काम में लाया गया था। इस मन्दिर के पाँच अवस्थान थे। उसका आयताकार आधार ३६ बुर्जों से घिरा हुआ था। उसके ध्वंसावशेषों में एक शिव-लिङ्ग मिला हुआ जान पड़ता है जिसे एक शिलालेख यशोधरेश्वर कहता है।

यशोधर तटाक—यशोवर्मा ने नगर के बाहर पूर्व और पश्चिम में दो विस्तीर्ण तड़ाग खुदवाए थे। पूर्वी तड़ाग की परिधि के चारों किनारों पर, जिसे आज थनाल बारे कहते हैं, उसने उन सुन्दर शिलालेखों की स्थापना की थी जो एकान्ततः उत्तरी भारत की नुकीली लिपि में लिखे गये थे। शिलालेख इसे यशोधर-तटाक कहते हैं।

राजधानी के महान् निर्माणों का जन्म—हम अँगकोर थाम का दिग्दर्शन करा चुके हैं। साथ ही उन निर्माणों

का भी उल्लेखमात्र कर चुके हैं जो इस युग के बने हुए प्रतीत होते हैं। इस प्रकार तड़ागों और परिखाओं के खोदने, सर्वत्र प्रबल मौलिक सुरुचि से तक्षण की हुई भारी भारी शिलाओं को दीवारों, प्राघाणों, गुम्बदों, गैलरियों, प्रकोष्ठों, भवनों के अग्रभागों में उचित स्थान पर उठाकर रखने, सिंहों और बहुशिरस्क सर्पों के भीमकाय पाषाणों को यथास्थान रखने, के महान् प्रयास की यत्किञ्चित् कल्पना की जा सकती है।

कला का यह महान् अप्रतिम पुष्पोपम प्रसार जावा के निर्बल प्रारम्भों को बहुत दूर पीछे छोड़ कर पहली ही उछाल में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा था। यह कम्बोडिया की वास्तु-कला के निर्माणों का विभूतिमान् विकास—उन मानवी कृतियों का दिव्य उद्बोधन-था जो जाति की मौलिकता का सब से अधिक व्यञ्जक प्रतिबिम्ब है।

राजधानी के ये सभी निर्माण, उसका महत्त्वपूर्ण मन्दिर, उसके तड़ाग और देवालय, समकालीनता का एक स्पष्ट लक्षण धारण करते हैं और व्यापक परिणाम की दृष्टि से पहले से ही अनुशीलन की हुई आयोजना की सूचना देते हैं। किन्तु क्या उस अपूर्व विचार का जन्म और सम्पादन एक ही समय में हुआ था? दूसरे शब्दों में क्या यशोवर्मा के राजत्व-काल के २० वर्ष इस विचार और उसकी पूर्ति के लिए पर्याप्त थे? ऐसा होने में सन्देह ही है। निर्माण-प्रयास की महत्ता के अतिरिक्त यह प्रायः निश्चित है कि कम से कम बेयोन का मन्दिर अंशतः उसके पिता के राजत्वकाल में बना था। जयवर्मा परमेश्वर का

ठीक अँगकोर के परिसर में अपनी राजधानी हरिहरालय को लौट आना हमें इस अनुमान की ओर ले जाता है कि इस आरम्भ का श्रेय उस महान् निर्माता को था जो युवा यशोवर्मा के राज्याभिषेक से २० वर्ष पूर्व परमधाम को सिधार चुका था

लोली का मन्दिर—अँगकोर थाम के महान् निर्माणों के अतिरिक्त सम्राट् यशोवर्मा ने द्वितीय श्रेणी का एक और मन्दिर बनवाया था जो इस समय 'लोली' नाम से प्रसिद्ध है—और जो दक्षिण-पूर्व में दस बारह मील की दूरी पर बाकू के मन्दिर के निकट था, जिसे उसके पिता ने अपने पूर्वजों को समर्पित किया था।

इन्द्रतटाक—लोली का मन्दिर एक विस्तीर्ण तड़ाग के मध्य में एक अल्पविस्तर कृत्रिम द्वीप पर बनाया गया था। तड़ाग का नाम इन्द्रतटाक था और उसके ऊपर तल से तीस बतीस फीट ऊँची अधित्यका थी। इस प्राचीन जलाशय में, जिसका न कोई चिन्ह शेष रहा है और न नाम, आज देशी लोग धान की खेती करते हैं।

एक बौद्ध आश्रम की स्थापना—अन्ततः हम यशोवर्मा के बौद्ध शिलालेख की ओर दृष्टिपात करते हैं, जो अंगकोर थाम के राज-प्रासाद के बिलकुल नज़दीक टेप प्रानम में पाया गया था। यह भी उत्तर-भारतीय लिपि में खुदा हुआ है और उन्हीं शिलालेखों की श्रेणी में सम्मिलित है जो थनाल बारे तड़ाग के चारों कोनों पर उपलब्ध हुए थे। प्रस्तुत शिला-

लेख में यशोवर्मा से एक बौद्ध आश्रम की स्थापना की जाने की चर्चा है।

प्रथम दो श्लोकों में शिव का आह्वान किये जाने के बाद तीसरे श्लोक में बुद्ध की स्तुति की गई है। "नमस्कार है उसके लिए जिसने स्वयं प्रबोधन प्राप्त करके तीनों लोकों को मुक्ति का मार्ग दिखलाया है; नमस्कार है दयार्द्र-चित्त बुद्ध के लिए जिसने निर्वाण का शुभाशीर्वाद प्रदान किया है, जिसके चरण पूजनीय हैं।" अनन्तर १५ श्लोकों में थ्नाल बारे के शिलालेखों के शब्दों में अक्षरशः यशोवर्मा की वंशावली दोहराई गई है। किन्तु अगले २८ श्लोकों की प्रशस्ति बिल्कुल मौलिक ढंग पर लिखी गई है। ४७ वाँ श्लोक कहता है—"राजाधिराज कम्बुजेन्द्र श्रीयशोवर्मा ने बौद्धों की सौभाग्य-वृद्धि के लिए इस सौगताश्रम का निर्माण किया है।" यह आश्रम एक 'कुलाध्यक्ष' के सञ्चालन में था। उसमें प्रवेश करने, आनुपूर्व्य आदि के सभी नियम प्रायः हिन्दू आश्रमों के ही जैसे थे।

यौवनावस्था में मृत्यु—यशोवर्मा निःसन्देह यौवनावस्था में ही परलोक को सिधार गया, क्योंकि ३१ मार्च ९१० का फिमानाक्स का शिलालेख उसके पारमार्थिक नाम (परमशिव-लोक) से उसका उल्लेख करता है जिससे हमें यह मानना पड़ता है कि वह इस लेख के लिखे जाने के समय इस संसार में नहीं था। उसकी आयु उस समय ४०, ४५ वर्ष की रही होगी और कोई व्याधि ही उसकी मृत्यु का कारण हुई होगी। कम से कम राज्य-क्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं की जा सकती, क्योंकि उसके बाद उसके दो पुत्रों ने राज्य किया।

कोढ़ी राजा—तेरहवीं शताब्दी का एक चीनी यात्री एक स्थानीय अनुश्रुति का उल्लेख करता है कि पिछले ज़माने में वहाँ एक कोढ़ी राजा था। कम्बोडिया के आधुनिक निवासी उसी अनुश्रुति के आधार पर बतलाते हैं कि अँगकोर थाम का संस्थापक एक कोढ़ी राजा था। श्रद्धा भक्ति भरे भय से देशी लोग प्राचीन राजधानी के उत्तर में कुलेन पर्वत के उत्संग में उस स्थान को दिखलाते हैं जहाँ कुछ चिर जीवन बिताने के बाद उसका दाह-कर्म हुआ था। अन्ततः वे राज-प्रासाद के निकटवर्ती उत्सेध पर स्थित कुष्ठी राजा की मूर्ति को दिखाते हैं।

यह सुन्दर गठित—कम से कम सिर में—मूर्ति एक पूर्णतया नग्न मनुष्य को प्रदर्शित करती है जिसमें कोई लिङ्ग भेद नहीं दिखलाया गया है, यह स्थानीय प्रतिमा-शिल्प के सिद्धान्तों के अनुकूल ही है। उससे नैसर्गिक महत्ता झलकती है; वह बैठी हुई हालत में है, उसका दाहिना घुटना कुछ उठा हुआ है (राजा प्रायः ऐसा ही आसन लगाये प्रदर्शित किये गये हैं); बायाँ हाथ टाँग पर विश्रान्ति ले रहा है, दाहिना हाथ जिसे श्रीयुत ऐमोनिए ने सन १८७३ में देखा था, १८८२ में अदृश्य हो चला था; घुटने के सहारे टिका हुआ, वह एक बहुत छोटी वर्तुलाकार वस्तु को पकड़े हुए था। इस मूर्ति का कोई अंग ऐसा नहीं है जिससे व्याधि के चिन्ह झलकते हों। सिर पर सुन्दर केश-पाश हैं; सुचारु मूँछें मुसकराते हुए होंठ को छायान्वित कर रही हैं। नाक सीधी और उदग्र है; आँखें बहुत बड़ी, ऋजु और खुली हुई हैं, जिससे मालूम होता है कि यह मूर्ति किसी जीवित मनुष्य की प्रतिकृति है। दिव्य या

राजकीय विशेषता उसमें कोई नहीं है। यशोवर्मा के साथ उसका तादात्म्य करना सम्भव नहीं ।

उसका राजकीय नाम, जो इतना विश्रुत था, उसके किसी परवर्ती ने ग्रहण नहीं किया; उससे पहले भी किसी ने यह नाम नहीं धारण किया था ।

जो कुछ भी हो, यह ठाट-बाट-प्रेमी तरुण सम्राट्, जिसने इतने विस्मयावह निर्माणों और ओजस्विनी उपाधिओं से अपने यश का प्रसार किया था, मानवी महत्ताओं की निःसारता का एक ज्वलन्त उदाहरण है ।

——:o:——

यशोवर्मा के पुत्र।

हर्षवर्मा और इन्द्रवर्मा—यशोवर्मा के दो पुत्रों और उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है। कब राज्याधिकार एक के हाथ से दूसरे के हाथ में गया, इसका कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। केवल इतना ही हम जानते हैं कि उन्होंने अनुक्रम से ९०९ के लगभग से ९२८ तक राज्य किया।

हर्षवर्मा प्रथम ज्येष्ठ था और उसका पारमार्थिक नाम रुद्रलोक था।

इन्द्रवर्मा द्वितीय हर्षवर्मा से छोटा था और उसका पारमार्थिक नाम परमरुद्रलोक था। 'एक ही माता और विजयी सम्राट्' से इन दोनों का जन्म हुआ था।

इन दोनों राजकुमारों ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किये। उनके धार्मिक प्रतिष्ठापन बिल्कुल साधारण श्रेणी के हैं। हर्षवर्मा ने इन्द्रपर्वत (आधुनिक बाखेंग) के निकट एक लिङ्ग और कुछ प्रतिमाओं की स्थापना की थी।

सन् ९२१ में उनमें से एक के—कहा नहीं जा सकता किसके—राजत्वकाल में तीन क्षत्रियों ने ईंट के पांच बुर्ज बनवाये थे जो अब क्रेवन के खण्डहरों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

बाँटेई केडेई—शायद इन दो राजाओं में से एक ने उस महत्त्वपूर्ण मन्दिर को बनवाया था जो अब बाँटेई केडेई नाम से प्रसिद्ध है । यह बौद्ध भिक्षुओं का दुर्ग था । क्रेवन से वह बहुत दूर नहीं है । प्राचीनता की कुछ विशेषताएँ, उदाहरणार्थ मानवमुखी बुर्ज और विशेषकर पत्थर की एक अल्पविस्तर वेदिका का अस्तित्व जो पूर्वकालीन मेबूनों का स्मरण दिलाता है, उसे अँगकोर थाम की स्थापना के युग के निकट रखती हुई प्रतीत होती हैं ।

बाँटेई केडेई के मन्दिर के सामने २२५ गज की दूरी पर गहरा खुदा हुआ विशाल जलाशय है जिसका परिमाण पूर्व-पश्चिम को ८७५ गज और उत्तर-दक्षिण को इसका आधा है । उसमें अभी तक पानी विद्यमान है और देशी लोग उसे स्रा स्रांग (धार्मिक अवगाहन-तटाक) कहते हैं । उसके मध्य में एक अल्पविस्तर भवन एक वर्गाकार पिराडमिड का स्कन्ध—था जिस पर एक छोटी सी वेदिका रही होगी जो अब अन्तर्हित हो चली है । वह अभी तक जलराशि से बाहर निकला हुआ है । अतः पूर्वकालीन मेबूनों का यह एक परिक्षीण चिन्ह—सम्भवतः जल-देवी की पवित्र वेदिका है ।

एक सुन्दर प्राघाण से, जो तड़ाग के पश्चिमी मुख के मध्य में बना हुआ था, एक वीथिका मन्दिर के विशाल-मुख-द्वार को जाती थी जिसके ऊपर एक चतुर्गुण मानव-मुखी अट्टालिका बनी हुई थी । उसकी परिधि की अन्य तीन ओर भी इसी प्रकार के द्वार बने हुए थे ।

एक क्रूशाकार प्राघाण से परे दूसरी परिधि है जो प्रायः वर्गाकार है और जिसकी एक भुजा लगभग ३३० गज है। यह लाइमोनाइट की एक दीवार है जिसको एक बीस बाइस गज चौड़ी खाई घेरे हुई है। पूर्वी पश्चिमी द्वारों तक जाने के लिए इस खाई पर पुल बने हुए थे।

फिर एक बड़े देवालय से परे, जिसका शिखर गरुड़ों पर स्थित है, दो आयताकार और एक केन्द्रीय गैलरियाँ अन्य क्रूशाकार गैलरियों को घेरे हुई थीं जिनके परस्पर मिलने के स्थल पर प्रधान पुण्य भूमि थी; यहाँ पर उनके ऊपर एक छोटा सा गुम्बद् था।

गवेषकों ने बाँटेई केडेई के इस मन्दिर में बौद्ध प्रतिमाओं के अस्तित्व का निर्देश किया है।

ता-प्रोम का मन्दिर—सम्भव है कि ता-प्रोम का विशाल मन्दिर भी, जो बाँटेई केडेई के पड़ोस में है, यशोवर्मा के पुत्रों के ही राजत्व-काल में बना हो। उसके कतिपय बुर्ज चतुर्गुण मानव-मुखी हैं और उनका निर्माण नवीं शताब्दी अथवा दशवीं शताब्दी के आरम्भ से आगे अवतरण नहीं कर सकता।

ये दोनों मन्दिर अँगकोर थाम के समकालीन प्रतीत होते हैं किन्तु उन्हें यशोवर्मा के पुत्रों के राजत्व-काल में केवल अनुमान के आधार पर रक्खा गया है, चूँकि अन्य किसी काल में उनके लिए कोई अवकाश नहीं दीखता।

यहाँ वास्तविक घटनाएँ प्रस्खलित हो जाती हैं। तथ्य

अन्तर्हित हो जाता है, अतएव तथ्याभास पर ही सन्तोष कर लेने को विवश होना पड़ता है; अनुमान यथार्थता में परिणत होने लगता है। हो सकता है कि ये दोनों मन्दिर इन दो राजकुमारों के राजत्व-काल से पहले बने हों किन्तु उन्हें उत्तरकालीन सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण दृष्टिगोचर नहीं होता।

ता-प्रोम अट्टालिकाओं और गैलरियों का एक विशाल निचय है; ये निर्माण सभी एक ही काल के बने हुए नहीं प्रतीत होते। वे एक विशाल उद्यान के मध्य में एकत्रीभूत हैं जो लाइ-मोनाइट की एक दीवार से घिरा हुआ है। इस दीवार के शिखर पर वालुकापाषाण लगा हुआ है और उसका परिमाण पूर्व-पश्चिम को लगभग ११०० गज और उत्तर दक्षिण को ७०० गज से भी अधिक है। इस दीवार की चारों दिशाओं में बीच बीच में चार द्वार हैं। पूर्व में प्रतिष्ठाद्वार के ऊपर एक चतुर्गुण मानवमुखी गुम्बद है। उद्यान के उत्तर-पूर्वी कोने पर मन्दिर का अपूर्व पवित्र तड़ाग खुदा हुआ है।

असली मन्दिर दूर पश्चिम में एक गहरी खाई से घिरा हुआ है। पूर्वी और पश्चिमी मुखों पर वह सेतुबन्धों से पार की जाती है। अन्दर की ओर एक दीवार है; फिर एक समान-केन्द्रीय आयताकार गैलरी है जिसे पूर्वी और पश्चिमी मुख-द्वार सुशोभित कर रहे हैं। अन्य दो मुखों पर इस प्रकार के द्वार नहीं हैं, केवल सजावट के लिये प्रकोष्ठ बने हुए हैं। इस विहार के अन्दर प्रवेश-गलरियाँ, अट्टालिकाएँ, देवालय आदि अनेकों निर्माण विद्यमान हैं। पीछे की ओर एक आयताकार

गैलरी, जो छोटे छोटे बुर्जों से अलंकृत कोणस्थ प्रकोष्ठों और मण्डपों को चली गई है, कुछ देवालयों और केन्द्रस्थ पुण्य-स्थल को, जो क्रूश की आकृति का एक हौल है और जिसके ऊपर एक ऊँची अट्टालिका है, घेरे हुई है।

ता-प्रोम का ललित व्यापक प्रभाव एक रम्य काल की सूचना देता है। अग्रभागों और गैलरियों के प्रकोष्ठों की सजावट में गहरा तक्षण है किन्तु द्वारों के वालुका-पाषाण में बहुत लालित्य नहीं है।

पार्श्वों के ऐकान्तिक बुर्ज ईंट के बने हुए हैं और सम्भवतः मन्दिर के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक उत्तर-कालीन हैं।

एक प्रबल उद्भिज्जाल से आक्रान्त होकर ता-प्रोम शोचनीय ध्वंसावस्था में पड़ा है।

शिलालेखों में यशोवर्मा के वंशजों की चर्चा—

वाट चक्रेत के शिलालेख में हर्षवर्मा की चर्चा इस प्रकार की गई है—"श्री यशोवर्मा का पुत्र हर्षवर्मा नामी एक राजाधिराज था जो अभिनव श्री के समागम से श्रीनिवास (कृष्ण) के समान सुशोभित था। इस कम्बुजेन्द्राधिराज ने, जिसके गुणों का गान सारा जगत् करता था, अद्रिव्याधपुरेश को हर एक पक्ष में छः सुन्दर दासियाँ भेंट की।"

वाट थिपदेई के संस्कृत शिलालेख में यशोवर्मा, हर्षवर्मा और ईशानवर्मा द्वितीय की प्रशस्ति दी गई है और ईशानवर्मा के मंत्री शिखाशिव के धार्मिक प्रतिष्ठापन की चर्चा की गई है।

फ्नौम प्रीह विहार के खमेर शिलालेख में सूर्यवर्मा प्रथम

की रानी श्री वीरलक्ष्मी का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह रुद्रलोक को प्राप्त हुए हर्षवर्मा और परमरुद्रलोक को प्राप्त हुए ईशानवर्मा के राजवंश की राजकुमारी थी। यह शिलालेख उन परिवारों का उल्लेख करता है "जिन्होंने कम्बु के वंशजों के इतिहास की रक्षा की और जिन्होंने श्रुतवर्मा से लेकर सूर्यवर्मा प्रथम तक के पृथ्वी के राजाओं के यशोगान करने वाले इतिहासों को सुरक्षित रक्खा।"

सन् ६२२ का टुओल पेइ का एक और खमेर शिलालेख एक राजा के आदेश का (जिसका नाम नहीं दिया गया है किन्तु जो ईशानवर्मा द्वितीय होना चाहिए) उल्लेख करता है जिसमें किसी एक नरेन्द्रारिमाथन को वाप चीन से दास, सुवर्ण, रूप्य इत्यादि प्राप्त करने को कहा गया है।

मनःशिव—जैसे भारत में, वैसे ही कम्बोडिया के इतिहास में भी ऐसे अवसर आये हैं जब एक ही परिवार के अनेक व्यक्ति निरवच्छिन्न मंत्रिपद को अधिकृत किये हुए रहे। कम्बोडिया में ऐसा एक दृष्टान्त हम देख ही चुके हैं। दूसरा दृष्टान्त भी लीजिए। लोवक के शिलालेख से हम मालूम करते हैं कि राजा रुद्रवर्मा और नरेन्द्रलक्ष्मी का पुन्नागवर्मा नामी एक पुत्र था। पुन्नागवर्मा के मातृवंश में तीन पुरुष पैदा हुए थे जिन्होंने श्रीहर्षवर्मा, श्रीईशानवर्मा और श्रीजयवर्मा का साचिव्य ग्रहण किया। इनमें एक शिव का परम भक्त था। वह कहा करता था—"शिव ही मेरा आश्रय है।" यह इस बौद्ध वचन का अनुकरण जैसा प्रतीत होता है—"मैं बुद्ध की

शरण लेता हूँ।" उसका मन शिव की भक्ति से इतना आप्ला-वित था कि उसका नाम ही "मनःशिव" पड़ गया था।

धार्मिक उदारता—प्राचीनहिन्दूकम्बोडिया के इति-हास में यह भी एक निरन्तर स्मरण रखने योग्य बात है कि राजधर्म 'शिव की उपासना' होने पर भी अन्य सम्प्रदाय वहाँ ठुकराये नहीं जाते थे प्रत्युत उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था। यशोवर्मा ने तो यहाँ तक उदारता और महानु-भावता दिखाई थी कि बौद्धों के लिए राज-व्यय से एक पृथक् आश्रम ही खोल दिया था। शिलालेखों में जहाँ शिव को प्रथम स्थान दिया गया है वहाँ अन्य उपास्य देवों को भी यत्र तत्र पूजा के स्थान पर बिठाया गया है।

कोह केर के राजा

जयवर्मा पञ्चम—पारमार्थिक नाम, शिवपद अथवा परमशिवपद; सन् ६२८ में सिंहासन पर बैठा और ६४२ तक राज्य करता रहा।

शायद उसने सिंहासन पर ज़बरदस्ती अधिकार किया था, क्योंकि उसका राजवंश से केवल यही सम्बन्ध था कि उसको श्रीयशोवर्मा की बहिन ब्याही गई थी।

एक शिलालेख उसकी प्रशंसा इस प्रकार करता है—"चम्पाधिराज जैसे शत्रु-नृपों के लिए वह अति भयंकर था उसने क्षितिज के चारों कोनों के सम्राटों को पराजित किया।"

उसके बड़े लड़के और द्वितीय उत्तराधिकारी का ६४८ का एक और शिलालेख उसके सम्बन्धपक्ष का इस प्रकार उल्लेख करता है—"उसके (ईशानवर्मा द्वितीय के) पिता की बहिन का पति श्रीजयवर्मा योग्य और सौभाग्यशाली था। उसने अपनी शक्तिमत्ता से एक नगर की स्थापना की जो विश्व की समृद्धि का घर था।"

शायद प्रस्तुत राजधानी राजकीय वाक्-प्रपञ्च की इस प्रशंसा के योग्य नहीं है किन्तु हमारे लिए उसके समय और उसकी अवस्थिति का पूर्णतया निर्णय होजाना अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है।

यशोधरपुर-त्याग—वस्तुतः सिंहासन पर बैठते ही जयवर्मा ने यशोधपुर (अंगकोर थाम) के नये रम्य नगर को इतनी शीघ्रता से छोड़ा मानो उसमें किसी भयङ्कर संक्रामक रोग का दौरा रहा हो। आप उसे अपने साथ अपने उपास्य देव देव-राज, पुरोहितों और भक्तिभाव रखनेवाले विश्वस्त राज-सभासदों को ले जाते हुए कल्पना कर सकते हैं। अँगकोर प्रान्त के काश्त किये हुए मैदानों से निकल कर वह उत्तर-पूर्व की ओर प्रयाण करता है और जंगली उपत्यकाओं के उन वीरान प्रदेशों में प्रवेश करता है जहाँ बालू के पतले संस्तर के ऊपर विरल वृक्ष कृच्छ्रता से उगते हैं जिसमें कभी कभी वालुका-शिलाओं और भूगर्भ के लाइमोनाइट का मेल हो जाता है। इससे भी आगे कुलेन की अधित्यका में बेंग माला के मन्दिर को पीछे छोड़ कर वह तब तक विराम नहीं करता जब तक फ्नौम थबेंग नाम की एक और उच्छ्रित अधित्यका में नहीं पहुँच जाता।

कोह् केर—वह स्थान, जिसे इस समय कोह केर कहते हैं, काँपाँग स्वे प्रान्त के प्रोमोटेप जिले में अँगकोर से एक सौ मील से भी अधिक दूर है। सब प्रकार की संस्कृति से परे उन जंगलों में जहाँ वालुका-शिलाएं मिलती थीं, शायद इससे अधिक वीरान स्थल के लिए मन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती थी; वह जयवर्मा के मनोबन्ध के लिए पर्याप्त था। शायद वह काष्ठ के बने हुए एक महल में रहता था, क्योंकि यहाँ राजकीय निवास अथवा नगर की परिधि का कोई चिन्ह नहीं मिलता।

उसने फौरन ही राजधानी के प्रथोचित प्रतिष्ठापनों—विशाल तड़ाग, द्वितीय श्रेणी के धार्मिक भवनों, प्रधान मन्दिर—के निर्माण का आरम्भ करवाया।

लगभग ये सभी निर्माण समष्टि अथवा व्यष्टि रूप से अक्ष से २० अंश व्यस्त हैं। इस प्रकार जो गृह-मुख उत्तर-दक्षिण को होते थे वे दक्षिण से वायव्योत्तर को २० अंश के झुकाव पर बनाये गये थे। आगे चल कर हम इस व्यतिक्रम का कारण देखेंगे।

नगर का विशाल तड़ाग, जो इस समय घास पात से भरा हुआ एक दलदल है और रहल कहलाता है, उत्तर-दक्षिण को ८७५ गज लम्बा और पूर्व-पश्चिम को ६५० गज चौड़ा था। उसका पोषण एक बरसाती नाले से होता था जो दक्षिण की ओर से उसमें गिरता था। इससे भी अधिक उत्कृष्ट एक और गहरा जलाशय था जिसकी लम्बाई ५५ गज और चौड़ाई ३८ गज थी। यह रहल से पश्चिम की ओर २२० गज की दूरी पर और प्रधान मन्दिर से दक्षिण की ओर ०४० गज की दूरी पर स्थित था। उसका आधुनिक नाम आँडोंग प्रेंग है और उसका जल उस प्रदेश के लिए अति उत्तम है। देशी लोग कहते हैं कि कोह केर ठीक इसी स्थल पर था जहाँ वह जलाशय है।

द्वितीय श्रेणी के मन्दिर—राजा और उसके राजन्यवर्ग ने लगभग एक दर्जन द्वितीय श्रेणी के मन्दिर बनवाये थे जो कोह केर से दक्षिण की ओर काफ़ी दूर पर हैं। इन क्षुद्र मन्दिरों में से एक अनेक खमेर शिलालेखों के लिये प्रसिद्ध है, जिनमें से अधिकांश नष्ट हो चुके हैं।

कुछ दूर पर तीन स्थूल बुर्ज हैं जो दूर से लाये हुए धूसरित वालुका-पाषाण से बनाये गये थे और जिनके नीचे इतनी ही संख्या में स्थूल नैसर्गिक चट्टान हैं। ये चट्टान बड़े बड़े शिव-लिङ्गों की आकृति में काटे गये थे। इन्हें सम्मुख रखने में ही मन्दिर के यथोचित विन्यास में व्यतिक्रम आया था।

सम्भवतः प्रकृति की इस विरल अपूर्वता, नैसर्गिक रूप में सजे हुए इन तीन चट्टानों—जो एक ही शिला में शिव-लिङ्ग और उसके पादपीठ में तक्षण किये जा सकते थे—ने ही उस उत्साह को उत्तेजित किया जिसका भारत के धार्मिक विचारों में इतना प्राबल्य था और जयवर्मा की राजधानी के विचित्र चुनाव में योग दिया।

कोह केर का प्रधान मन्दिर—इन लिंगों के पश्चिम में प्रधान मन्दिर है। बाहरी गैलरियाँ और दो बुर्ज उसकी उद्घोषणा करते हैं। परे प्रवेश-द्वार है जिसके ऊपर एक ऊँची अट्टालिका बनी हुई है। इससे हम उस परिधि के अन्दर प्रवेश करते है जो एक आयताकार दीवार के रूप में बनी हुई है।

पुण्य-भवनों से परे एक प्रकोष्ठ-मार्ग से हम दीवारों से घिरे हुए एक उद्यान में प्रवेश करते हैं, जहाँ वालुका-पाषाण का बना हुआ सात अवस्थानों का एक ४० गज ऊँचा पिरामिड स्थित है। अन्ततः इस मन्दिर के पीछे, परिधि से बाहर, मिट्टी का एक स्थूल कृत्रिम पर्वत-खण्ड खड़ा किया हुआ मिलता है।

कोह केर का यह प्रधान मन्दिर मिश्रित प्रकार का है। उसमें शैली का अभाव है। वास्तुकला में, जो कभी कभी

प्रबल है, चारुता का अभाव और भारीपन है । गैलरियों और भवनों की छत्तें निःसन्देह विनाशशील पदार्थों की बनी हुई थीं। जो कुछ अवशिष्ट है वह वालुका-पाषाण का बना हुआ था जिसे आस पास के प्रदेश में खोदा गया था। किन्तु यह स्थूल दाने-दार लालिमा-युक्त वालुका-पत्थर वायु के सम्पर्क से कुछ विशीर्ण जैसा होजाना है । लाइमोनाइट का भी प्रचुरता से उपयोग किया गया है।

निर्माण–सामग्री की स्थूलता के कारण इन मन्दिरों में समृद्ध अलंक्रिया का प्रायः अभाव ही है, वह तक्षण–कला यहाँ दुर्लभ है जो अन्यत्र कम्बोडिया के सुन्दर भवनों की शोभा बढ़ाती है। केवल स्तम्भ-पंक्तियाँ, अग्रभाग और चौखट जो दूर से लाये हुए नीले वालुका-पाषाण के बने हुए हैं, उन तक्षणों से युक्त हैं जो एक रम्य युग की सूचना देते हैं।

कोह् केर के शिलालेख—प्रधान मन्दिर के संक्षिप्त संस्कृत शिलालेख अंशतः नष्ट हो चले हैं। द्वितीय श्रेणी के मन्दिरों में वहाँ की ग्रामीण भाषा में लगभग चालीस शिला-लख खुदवाये गये थे किन्तु सब देश के कुत्सित वालुका-पाषाण पर। उनमें अधिकाँश मिट गये हैं। यहाँ क्षति ति शोच-नीय नहीं है। यह सिद्धहस्तता का बृहत् क्षय था; ६०० वर्ग-गज से भी अधिक सतह उससे ढकी हुई थी जिसमें १५०० से भी अधिक पंक्तियाँ थीं और ४००० से भी अधिक दासों और भृत्यों के नाम दिये गये थे—नाम जिनके साथ उनके कामों के दुर्लभ संकेत और जिस देश से वे आये थे उसको छोड़ कर और कुछ नहीं दिया गया था।

था। उसने अपने राजत्व-काल के दो संक्षिप्त वर्ष अपने पिता की कल्पना-तरङ्ग से निर्माण किये गये नगर (कोह केर) में ही बिताये। कुछ अनुश्रुतियों से प्रतीत होता है कि उसकी अपने जेठे भाई के साथ बड़ी भारी शत्रुता थी जिसे उसने देश से निकाल दिया था। अन्ततः उसीके हाथ उसने अपने राज्य को—और सम्भवतः अपने प्राणों को भी—खोया। उसके विजयी भाई ने शीघ्र ही अँगकोर थाम में प्रवेश किया और कोह केर को उसके वीरान जँगल की निष्प्रभता के समर्पण कर दिया।

——:o:——

राजधानी के प्रसाधक।

राजेन्द्रवर्मा—पारमार्थिक नाम शिवलोक, सन् ६४४ से ६६८ तक राज्य करता रहा।

शायद उसके पूर्ववर्ती राजा का अपकर्ष प्रकट करने के लिए अथवा चाटुकारिता के लिए उसका एक शिलालेख उसके विषय में कहता है—"उस नरसिंह ने जगत् को हिरण्यकशिपु के प्रभुत्व से मुक्त किया।" राजेन्द्रवर्मा अपने आपको चन्द्रवंशी कहता था; विशेषकर प्राचीन रुद्रवर्मा के साथ उसने अपना परम्परा-सम्बन्ध स्थापित किया।

यशोधरपुर का संस्कार—सिंहासन पर बैठते ही यह राजकुमार कोह केर को छोड़ने के लिए उत्सुक हुआ। वह अपने साथ अँगकोर में, जो सोलह वर्ष से छोड़ा हुआ था, अपने उपास्य देव देव-राज को लेगया। उसने यशोधपुर के पवित्र नगर का, जो इतने चिर खाली रहा था, संस्कार किया और "दीप्त सुवर्ण से समलंकृत भवनों और रत्न-खचित राज-प्रासादों का निर्माण करके उसकी विभूतिमत्ता को बढ़ाया।"

कवीन्द्रारिमथन—सजावट के इन कार्यों का सञ्चालक कवीन्द्रारिमथन नामी एक बौद्ध मन्त्री था जिसे एक "रम्य राजप्रासाद" को बनवाने की आज्ञा हुई थी।

राजकुल-महामन्त्री—एक और मन्त्री, जिसने निःसन्देह राजा के उत्कर्ष को बढ़ाने में प्रबल योग दिया और जिसने सारे राजत्व-काल में महत्त्वपूर्ण कार्य किये; 'राजकुल-महामन्त्री' था, उसकी कर्मरायता बाटामबाङ्ग प्रदेश में सबसे अधिक प्रबल थी जहाँ राजकुल की सजीव अनुश्रुति सुरक्षित रक्खी गई है ।

ग्राम्य भाषा में शिलालेख—राजेन्द्रवर्मा ने ग्राम्य भाषा में पत्थर पर दो वाक्-सन्दर्भ छोड़े हैं जिनमें राजकीय निर्णयों का उल्लेख है । इन शिलालेखों में से एक के अनुसार तीन बड़े आदमियों—सम्भवतः विद्रोहियों—के हरण किए हुए माल—भूमि, दास, पशु—को आहवनीय अग्नि (एक ब्राह्मणी धर्म-निष्ठा) की भेंट कर दिया गया था । दूसरे में एक शासक पर दस औंस सोना जुर्माना किया गया है क्योंकि उसने खेतों की सीमाओं का अतिक्रमण किया था, दूसरे के खेतों पर अनुचित अधिकार करना चाहा था । उसका साथ देनेवालों की पीठ पर सौ सौ कोड़े लगवाये गये थे । खेत असली अधिकारी को लौटा दिये गये थे और उनकी सीमाएँ ठीक कर दी गई थीं ।

संस्कृत शिलालेख—संस्कृत शिलालेख राजेन्द्रवर्मा के विषय में कहते हैं—"यह राजा चम्पा आदि शत्रु-राज्यों को जलाने के लिए अग्नि था ।" उधर चाम लोग इस बात को मानते हैं कि उसने ६६५ में पो नगर के मन्दिर में प्राचीन सुवर्ण-प्रतिमा की जगह एक पाषाण-प्रतिमा की स्थापना की

थी और "सुवर्ण-प्रतिमा को कम्बोडिया के गृध्नु ले गये थे जो उसके कारण मृत्यु को प्राप्त हुए।"

बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा—इस सम्राट् की छत्रच्छाया में—यद्यपि वह स्वयं शैव था—बौद्ध धर्म की महती प्रतिष्ठा हुई, निरन्तर उसका विकास होता रहा और वह अनेक राजकीय अनुग्रहों का पात्र बना। आधुनिक बाट चूम में, जो बाटेई केडेई के मन्दिर के निकट है, बौद्ध विहारों की स्थापना की गई थी। ये एक परिखा से घिरी हुई ईंट की तीन अट्टालिकाएँ हैं; उनका निर्माण ९५३ में हुआ था।

किन्तु हिन्दू प्रतिष्ठापन कहीं अधिक थे और उनका महत्त्व भी अधिक था।

एक विशाल मन्दिर का निर्माण—राजेन्द्रवर्मा ने उस विस्तीर्ण तड़ाग के मध्य में, जिसे करीब पचास वर्ष पहले यशोवर्मा ने खुदवाया था, एक विशाल मन्दिर—पूर्वी मेबून—का निर्माण किया था। आज भी यह मन्दिर एक ऊँचे आयताकार प्राघाण पर स्थित है किन्तु तड़ाग धान के खेतों में परिवर्तित कर दिया गया है। तटाकद्वीप तीन अवस्थानों अथवा उत्तरोत्तर परिमाण में कम होते हुए तीन अनुक्रम से उत्सर्पण करने वाले प्राघाणों के रूप में बना हुआ है। इन प्राघाणों की दीवारें लचीले लाइमोनाइट की बनी हुई हैं। चारों ओर, बीच बीच में, सिंहों से सजी हुई सोपान-पंक्तियाँ ऊपरली अधित्यका को चली गई हैं। 'मोनोलिथ' के सुप्रभ हाथी अब भी दो निचले प्राघाणों के कोनों को सुशोभित करते हैं, जहाँ

पुरोहितों के रहने के लिए भी पुण्यागार बनाये गये थे। प्रथम प्राघाण के चार हाथी प्रायः नैसर्गिक महत्ता से युक्त हैं। दूसरे अवस्थान के हाथी उनसे छोटे है किन्तु वे अपने सिर पर राजकीय किरीट धारण किये हुए हैं। ऊपरली अधित्यका १०० गज से भी अधिक लम्बाई का एक वर्ग है। उसके पश्चिमी भाग में असली मन्दिर है जिसमें ईंट की बनी हुई पर्याप्त चारुता की पाँच अट्टालिकाएँ संमिलित हैं। मध्यवर्तिनी अट्टालिका कोणस्थ अट्टालिकाओं की अपेक्षा अधिक ऊँची है।

इन अट्टालिकाओं की ईंटों के बीच बीच में अनेकों छिद्र हैं जिनसे यह सूचित होता है कि उन स्थलों पर पहले लेपन लगा हुआ था।

तेरहवीं शताब्दी का एक चीनी यात्री अँगकोर थाम के इस पूर्ववर्ती तड़ाग का उल्लेख करता है और कहता है कि वहाँ बुद्ध की एक प्रतिमा थी जो तड़ाग के मध्य में बने हुए मन्दिर को फव्वारे का काम देती थी और जिसकी नाभि से पानी निकलता था।

राजेन्द्रवर्मा ने अपने राजत्व-काल के प्रथम तीन या चार वर्षों में इस प्राचीन तड़ाग के मध्य में जो एक लिङ्ग और ब्राह्मणी प्रतिमाएँ स्थापित कीं उनके विषय में संस्कृत शिलालेख बिल्कुल स्पष्ट हैं—"यशोधरपुर का संस्कार करने के पश्चात् उसने यशोधर-तटाक के दिव्य-भवन के मध्य में पाँच देवताओं की स्थापना की।" और फिर "यशोधर-तटाक नामी समृद्धिशाली सागर के मध्य में उस पर्वत पर जिसको उसने स्वयं बनवाया था और जिसका शिखर मेरु पर्वत के शिखर की

समता रखता है उसने अट्टालिकाओं और भवनों की स्थापना की और ब्रह्मा, देवी, ईश, विष्णु और एक शिवलिङ्ग का प्रतिष्ठापन किया।"

प्रे रूप—इस मेबून से कुछ दूर पर दक्षिण-पूर्व में एक और महान् स्मारक के ध्वंसावशेष हैं जिन्हें इस समय प्रे रूप कहते हैं और जो राजेन्द्रवर्मा का बनवाया हुआ प्रतीत होता है। तथापि उसका परिमाण कुछ अधिक है और वह निर्माण-सामग्री के चुनाव और निर्माण-कार्य की सूक्ष्मता में अवर है। इसके अतिरिक्त देशी लोगों ने उसका जो नाम सुरक्षित रक्खा है उससे एक ऊर्ध्वदाह-प्रथा की सूचना मिलती है और जान पड़ता है कि उसका निर्माण अन्त्येष्टि-कर्म के लिए हुआ है।

प्रे रूप की चारों ओर लाइमोनाइट की एक दीवार है; उस पर विशाल द्वार बने हुए हैं और उसकी परिधि के अन्दर अनेकों भवन और एक विशाल केन्द्रस्थ पिरामिड हैं। इस पिरामिड के तीन अवस्थान हैं, चारों मुखों पर सोपान-पंक्तियाँ और प्राग्राणों के ऊपर गैलरियाँ हैं। ऊपरली अधित्यका पर ईंट की पाँच अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं।

जयवर्मा षष्ठ—जयवर्मा षष्ठ अपने पिता राजेन्द्रवर्मा के बाद सन् ६४८ में सिंहासन पर बैठा और उसने १००१ तक राज्य किया। उसका पारमार्थिक नाम परमवीरलोक था। अपने पिता के राजत्वकाल में वह युवराज पद पर अभिषिक्त हुआ था। सम्भवतः राजेन्द्रवर्मा ने अपने जीवन-काल ही में उसे राज्य-भार सौंप दिया था। एक तत्कालीन शिलालेख कहता

है—"जयवर्मा स्वयं राजा था और राजाधिराज का अत्यन्त प्यारा था।"

अपने पिता की भाँति उसने भी बौद्ध धर्म को अपना अनुग्रह-भाजन बनाया।

इन्द्रलक्ष्मी और भट्टदिवाकर—जयवर्मा की इन्द्र-लक्ष्मी नाम्नी एक छोटी बहिन थी जो भट्टदिवाकर नामी एक भारतीय ब्राह्मण को ब्याही गई थी। प्री ईनकोसी के शिलालेख में भट्टदिवाकर की जन्मभूमि का उल्लेख इस प्रकार है—

"कालिन्दी यत्र रम्या ऋतुभ..........
रिज्य-जैर्द्विजेन्द्रैः
षट्त्रिंशद्भिः सहस्रैरनुसवन-
कृतैः ऋग्यजुःसामशब्दैः।
कृष्णः कृष्णाहिमर्द्दी
दितिजकुलहरः क्रीडितो यत्र बाल्ये,
तत्रैवाभूत् स देवो दिवसकर
इति ख्यातभट्टः सुकीर्त्तिः॥"

'जहाँ चेतोहारिणी यमुना बहती है, जहाँ ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों से अन्तरिक्ष प्रतिध्वनित होता है जिनका प्रत्येक सवन (त्रिसंध्या) में ३६००० से उदीरण किया जाता है, वहाँ, जहाँ कालीनाग का मर्दन करने वाला दैत्यकुल-घातक श्रीकृष्ण बाल्यकाल में क्रीड़ा करता था,—वहीं पुण्य-कीर्ति देव भट्ट दिवा-

कर ने जन्म ग्रहण किया था।' अतः कम्बुजेन्द्राधिराज का जामाता उत्तर भारत में बृन्दावन का रहनेवाला एक ब्राह्मण था; मातृ भूमि में यमुना के तटों की स्मृति बनाये रखने के लिए उसने कम्बोडिया में अपने आश्रम का नाम *मधुवन* रक्खा। शायद इस आश्रम की स्थापना सियाम रीप के आधुनिक ईनकोसी में हुई थी, जहाँ एक छोटा सा मन्दिर अभी तक विद्यमान है।

अंगकोर थाम का प्रसाधन-कार्य—जयवर्मा के पिता का वृद्ध सचिव 'राजकुल-महामन्त्री' अभी तक विद्यमान था। उसके दरबार में और भी अनेक मन्त्री थे जो बड़े विश्रुत पण्डित थे। उसने अँगकोर थाम के उस प्रसाधन-कार्य को बड़ी तत्परता से जारी रक्खा जिसका आरम्भ उसके पिता ने किया था। जयेन्द्रवर्मा नाम ग्रहण करके उसने यशोवर्मा के महल का नाम जयेन्द्रनगरी रक्खा; उसने उसके ५० एकड़ विस्तार को पर्याप्त न समझ कर उसे और बढ़ाया। शायद उत्तर की ओर उन मन्दिरों में उसने उसका प्रसार किया था जिन्हें इस समय टेप प्रानाम और पलिलै कहते हैं और जिनसे परे परिधि की लाइमोनाइट की दीवार के अवशेष अभी तक देखे जा सकते हैं। निःसन्देह दक्षिण की ओर विमानाकाश के स्थान पर, जो बहुत क्षुद्र समझा जाता था, उसने बा फून के विभूतिमान् पिरामिड का निर्माण किया था।

बा फून—बा फून बेयोन से लगभग साढ़े तीन सौ गज की दूरी पर यशोवर्मा के राज-प्रासाद के पार्श्व में बनाया

गया था। यह दूसरा फिमेअनाक्स (विमानाकाश) था किन्तु विभूतिमत्ता में अपने पूर्वकालीन विमानाकाश से तिगुना चौगुना बढ़ गया था।

इस अभिनव स्मारक का रमणीय अग्रभाग दक्षिण ओर राज-प्रासाद के प्रतिष्ठा-प्राघाण की चारु रेखा को दीर्घ करके कम्बोडिया के नगरधाम (अँगकोर थाम) के विशाल केन्द्रस्थ प्राङ्गण के दर्शनाभास की विभूतिमत्ता को पूर्ण करता था। यह एक दीर्घ गैलरी थी जो पब्लिक प्राङ्गण की ओर पत्थर की ललित स्तम्भपंक्ति के अनेकों झरोखों में अनावृत थी। उस पर तीन तोरण-द्वार थे।

केन्द्रस्थ प्रवेश-मार्ग से बहुशिरस्क सर्पों के कँगूरों से सजा हुआ एक सेतुबन्ध आरम्भ होता था जो लगभग २२५ गज लम्बा था। यह बा फून के महान् पिरामिड को चला जाता था जो पन्द्रह सोलह गज की दूरी पर एक लाइमोनाइट की दीवार से घिरा हुआ था।

मिश्रदेश के प्रथम पिरामिडों को छोड़ कर बा फून विभूतिमत्ता में किसी से कम नहीं है। वह एक वर्गाकार चबूतरे पर बना हुआ है जिसकी एक भुजा १३० गज लम्बी है जिसके सात अवस्थान तीन क्रमशः उत्सर्पी और परिमाण में घटते हुए प्राघाणों को थामे हुए हैं जो सँकरी गैलरियों से घिरे हुए हैं। इन गैलरियों के बीच बीच में तोरण-द्वार और प्रकोष्ठ बने हुए हैं। सिंहों से सजी हुई अति उत्सर्पिणी सोपान-पंक्तियाँ मध्य के दो प्राघाणों और ऊपरली अधित्यका को—जिसकी ऊँचाई जमीन से तीस बतीस गज है—चली गई हैं। उसकी

गैलरी एक आठ दस गज लम्बाई के वर्ग को घेरे हुई है। यहाँ एक ऊँचे चबूतरे पर एक दिव्य-भवन—एक अट्टालिका जो आज गिरी पड़ी है—खड़ा था।

सजावट में दृढ़ता और ओजस्विता है किन्तु उसमें विविधता की कमी है। बीच की गैलरी के तोरण-द्वारों के कोणस्थ स्तम्भों और ऊपरली गैलरी की दीवारों पर अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतिच्छायाएँ बनी हुई हैं जिनके विषय—जो यहाँ सूक्ष्मता से प्रदर्शित किये गये हैं—महान् भारतीय वीर-काव्यों, रामायण और महाभारत के दृश्यों से लिये गये हैं। आर्य-देवताओं के आस पास प्रचुरता से सब प्रकार के पशु और लड़ाई और द्वन्द्व-युद्धों के दृश्य अंकित किये गये हैं।

इस दृढ़ निचय का अन्तिम उच्छ्रित बुर्ज बा फून आज गिरा पड़ा है। शायद उसके ऊपर एक नुकीली छत्त बनी हुई थी जो धातु से ढकी हुई थी, जिससे इस स्मारक की ऊँचाई और भी बढ़ गई थी और जो उष्मा प्रधान प्रदेश के सूर्य की आग को प्रतिबिम्बित करती थी। बारहवीं शताब्दी के अन्त का चीनी यात्री कहता है—"सुवर्ण-बुर्ज (बेयोन) के उत्तर में लगभग साढ़े चार सौ गज की दूरी पर एक ताम्र-बुर्ज है जो अभी तक सुवर्ण-बुर्ज से अधिक ऊँचा है और जिसका दृश्य वस्तुतः प्रभावोत्पादक है।"

हेमशृङ्ग-गिरि—बा फून, जो उस समय हेमशृङ्ग-गिरि कहलाता था, एक प्रकार का शिव-मन्दिर और कैलाश और मेरु का—जो क्रम से शिव और इन्द्र के निवास हैं और

जिनके शिखरों पर देवता वास करते हैं—प्रतिरूप था। एक उत्तरकालीन संस्कृत शिलालेख कहता है—"जम्बुद्वीप के मध्य में देवताओं का निवास सुवर्ण-पर्वत मेरु स्थित है, उसकी प्रतिस्पर्धा के लिए राजा लोग अपने नगर के मध्य में एक सुवर्ण-पर्वत स्थापित करते हैं।"

यह हेमश्रृङ्ग-गिरि वहाँ के इष्ट देव का निवास-स्थान था, जिसकी उपासना राजा से निर्वाचित हुए लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण या पुरोहित करते थे। यह इष्ट देव एक लिङ्ग अथवा शिव या विष्णु की प्रतिमा के रूप में रहा होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ कम्बोडिया के सम्राटों का राज्याभिषेक होता था। निःसन्देह राष्ट्र के उच्चपदाधिकारी यहीं धार्मिक विधान से अपने पद को ग्रहण करते थे। उदाहरणार्थ ब्राह्मण शिवाचार्य ने यहीं जयवर्मा से अपना पद और अधिकार प्राप्त किया था—

"हेम शृङ्गगिरौ देवपूजावृद्ध्यायतिष्ठिपत्।
राजा श्रीजयवर्म्मा यं दर्शने गुणदोषयोः।"

यहीं शिवाचार्य के नाती शिवविन्दु ने आगे सूर्यवर्मा प्रथम से कपालेश्वर का पौरोहित्य प्राप्त किया था।

शिवब्रह्म—यह एक अपूर्व व्यतिक्रम है कि हमें प्राचीन काल के विभूतिमान् हेमश्रृङ्गगिरि—आधुनिक अकिञ्चन बा फून—के शिल्पी का नाम प्राप्य है। हेमश्रृङ्गगिरि और जयेन्द्रनगरी के इस प्रमुख शिल्पी का नाम वाप शिवब्रह्म था।

एक और बौद्ध सचिव—इस राजत्व-काल का श्री सांथोर

का शिलालेख बौद्ध धर्म से सम्बन्ध रखता है और तत्कालीन राष्ट्र में बौद्ध मत के द्रुत वेग से बढ़ते हुए महत्त्व को प्रदर्शित करता है। इस शिलालेख को जयवर्मा षष्ठ के मन्त्री कीर्तिपण्डित ने खुदवाया था। ५१ वें श्लोक से १०० वें श्लोक तक बौद्ध सिद्धान्तों और शिक्षा के समर्थन में राजा के उपदेश हैं। आरम्भ में महायान बौद्ध निष्ठा के तीन कायों—धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माण-काय—का आह्वान किया गया है—"मैं धर्मकाय को नमस्कार करता हूँ जो ग्रहण से छूटे हुए चन्द्रमा की भाँति पार्थिव जगत् से विलग होने पर निर्मल हृदयों में देदीप्यमान होता हुआ—जिस प्रकार चाँदनी स्वच्छ पानी में चमकती है—चन्द्रमा के समान प्रत्येक वस्तु को प्रभा से युक्त कर देता है। सम्भोगकाय की वन्दना करो जो धर्मकाय के लिए ऐसा ही है जैसा सूर्य के लिए सूर्यमण्डल और जो बौद्धों को सत्य को उसकी सारी बहुविधता में प्रगट करने के लिए अनिवार्य है। मैं निर्माणकाय—कल्याणरूप बुद्ध के दृश्य शरीर—को दण्डवत प्रणाम करता हूँ जो जगत् की सारी कामनाओं को पूरा करता है—वह कल्पवृक्ष जो सारी वासनाओं को पूरा करता है और स्वयं वासना-रहित है।"

इसके बाद धर्म-ग्रन्थों के उद्धार में कीर्तिपण्डित का उत्कट उत्साह प्रदर्शित किया गया है—"उसने फिर से मध्यत्रिभाग शास्त्र आदि धर्म-ग्रन्थों की मशाल को जलाया जिसे संसार के पाप बुझा चुके थे। वह विदेशों से दर्शनशास्त्र की बहुत सी पुस्तकों और तत्त्वसंग्रह जैसी टीकाओं को लाया जिससे उनके अध्ययन का प्रसार हो।"

उत्तरी भारत से बौद्ध साहित्य—श्रीयुत सेनार के कथनानुसार तत्त्वसंग्रह उक्त रहस्यपूर्ण सम्प्रदाय के प्रधान ग्रन्थों में से एक है। मध्यविभाग शास्त्र वसुबन्धु अथवा उसके भाई असंग का बनाया हुआ माना जाता है। उससे उस अनुश्रुति का समर्थन होता है जिसका उल्लेख बौद्ध-धर्म के तिब्बती इतिहास-लेखक तारानाथ ने किया है कि वसुबन्धु के शिष्य महायान के सिद्धान्तों को कोकी (इन्दोचीन) में ले गये थे।

प्रस्तुत शिलालेख आगे चल कर कहता है—"बलिहारी है कीर्तिपण्डित के प्रयत्नों की; बौद्ध धर्म का अन्धकार के पर्दे से ऐसे ही आविर्भाव हुआ जैसे शरद् ऋतु में चन्द्रमा वर्षा ऋतु के बादलों से मुक्त होजाता है। उसके शरीर में शून्यता और सापेक्षता के निर्मल सिद्धान्तों का, जो झूठे उपदेशों की शक्तिमत्ता से अन्तर्हित हो चले थे, फिर से आविर्भाव हुआ, जिस प्रकार सूर्य प्रकाश को लौटा लाता है।"

किन्तु शैव धर्मनिष्ठा के मार्ग में कोई बाधा उपस्थित नहीं की जाती है। पुरोहित को बौद्ध धर्मशास्त्र और आचार-पद्धति का विद्वान् होना चाहिए। पर्व के दिनों में उसे बुद्ध की प्रतिमा को स्नान कराना चाहिए और बौद्ध प्रार्थनाओं का संकीर्तन करना चाहिए। भिक्षुओं के साथ साथ पण्डितों और याज्ञिकों का भी उल्लेख किया गया है।

इस प्रकार यहाँ हम अशोक की भाँति जयवर्मा षष्ठ को राजकीय आदेशों द्वारा बौद्ध धर्म के उपदेशों के प्रचार में प्रयत्नशील पाते हैं।

बौद्ध मूर्त्तियों की स्थापना—फ्नौम बाँटई नाँग का शिलालेख एक छोटी सी प्रतिच्छाया के —जो आसीन बुद्ध को दर्शा रही है—आस पास खुदा हुआ है । उसमें सन ६८५ में एक त्रिभुवनवज्र द्वारा बुद्ध-माता (प्रज्ञापारमिता) की प्रतिमा के प्रतिष्ठापन का उल्लेख है और जगदीश्वर और लोकेश्वर की मूर्तियों की स्थापना की भी चर्चा है ।

जयवर्मा षष्ठ की जीवन-लीला के साथ सोम-वंश की उस राजकीय शाखा का भी अवसान होजाता है जिसे उसके पितामह जयवर्मा पञ्चम ने स्थापित किया था ।

उदयादित्यवर्मा प्रथम—उदयादित्यवर्मा सन् १००१ में सिंहासन पर बैठा और उसने केवल एक वर्ष अथवा उससे कुछ ही अधिक राज्य किया । प्रासात खना का शिलालेख उसके विषय में कहता है—"शक संवत् ९२३ (सन् १००१) में कम्बुज-राजवंश में कर्मण्यता में अग्रणी उदयादित्यवर्मा नामी राजाधिराज विद्यमान था जिसने अपने बाणों से शत्रुओं के दल को परास्त करके समुद्र-तट तक खदेड़ डाला था ।"

उसकी माता श्रेष्ठपुर के एक परिवार से अपना प्रादुर्भाव बतलाती है । उसका राजपतिवर्मा नाम का एक भाई था जो छठे जयवर्मा का सेनापति था । उसकी एक छोटी बहिन जयवर्मा की रानियों में से एक थी ।

उदयादित्यवर्मा का नरपतिवर्मा नामी एक बड़ा भाई था जिसने १००१ में विष्णु की एक सुवर्ण-प्रतिमा का प्रतिष्ठापन किया था "जो उसकी भावी आत्मीय प्रतिमा थी ।"

*

बौद्ध राजा सूर्यवर्मा प्रथम ।

जयवीरवर्मा—पारमार्थिक नाम निर्वाणपद अथवा परमनिर्वाणपद; १००२ से १०५० तक राज्य करता रहा । अपने राजत्वकाल के प्रथम तीन चार वर्षों में उसने जयवीर वर्मा नाम धारण किया ।

प्राह् खान का शिलालेख—उसने उदयादित्यवर्मा को राजपद से च्युत किया, जिसने संभवतः राज्य-रक्षा के संघर्ष में अपने प्राणों को भी खो डाला । प्राह् खान का शिलालेख कहता है—"देवताओं और उसके प्रीतिभाजनों को आनन्द देनेवाला शशिशेखर शिव का नृत्य कल्याण-प्रद हो जिसमें आठों दिशाएँ हिल जाती हैं और उसके नाचने वाले चरणों के नीचे पृथिवी झुक जाती है, जिसमें दिव्य प्रासादों को ढाहने वाली उसकी भुजाओं से उत्पन्न हुए वातावरण में इन्द्र विलाप करता हुआ भटकता फिरता है ! नमस्कार है बुद्ध के लिए, केवल जिसमें 'सर्वज्ञ' पद अपनी वास्तविक सार्थकता को प्राप्त हुआ है और केवल जिसके वचन अक्षरशः तर्कानुसार और सच्चे पाये जाते हैं । मैं अपने गुरु के चरणों को नमस्कार करता हूँ......जिसको त्र्यम्बक के प्रसाद से ज्ञान की प्राप्ति हुई है । सूर्यवर्मा नामी एक राजा था जिसने सूर्यवंश में जन्म लिया था और जिसका राज्य शक सम्वत ६२४ में

आरम्भ हुआ था। उसके चरण पातञ्जल महाभाष्य हैं, उसके हाथ काव्य, उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ छः दर्शन और धर्मशास्त्र उसका मस्तिष्क है। उसके पराक्रम का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि इस राजर्षि ने संग्राम में एक राजा से राज्य जीता है जो स्वयं अन्य राजाओं से परिवृत था।" अन्तिम वाक्य स्पष्टतया उदयादित्यवर्मा पर उसकी विजय का निर्देश करता है। इस शिलालेख से यह भी प्रतीत होता है कि कम्बोडिया के बौद्ध धर्म और शैव धर्म-निष्ठा में परस्पर कोई विसंवादिता नहीं थी, शैव सम्प्रदाय बौद्ध मत का अंग बनता जाता था। सूर्यवर्मा की कृतविद्यता पर भी वह प्रकाश डालता है।

सूर्यवंश से सम्बन्ध—सूर्यवर्मा अपने आपको सूर्यवंशी मानता था, वह नवीं शताब्दी के इन्द्रवर्मा के—जो अब ईश्वरलोक में था—मातृवंश से सम्बद्ध होने का भी दावा रखता था—

*"आसीच्छ्रीसूर्य्यवर्म्मेति वेदद्विविलराज्यभाक्। **
श्रीन्द्रवर्म्मान्वयव्योमभानुर्ज्योतिर्म्महीपतिः॥"

'वह इन्द्रवर्मा के वंशरूपी आकाश पर सूर्य की ज्योति के समान भासमान था।' वह अपनी पटरानी (अग्रदेवी) वीरलक्ष्मी का कुल सम्बन्ध इन्द्रवर्मा के पौत्रों और यशोवर्मा के दो पुत्रों और उत्तराधिकारियों से बतलाता है, उस सूर्यवंश से उसे स्थापित करता है जिसको जयवर्मा पञ्चम के अभिषेक

* वेद = ४, द्वि = २, विल = छिद्र, शरीर के नौ द्वार, वेदद्विविल राज्यभाक् = जिसने शक संवत् ९२४ में राज्य प्राप्त किया था।

अथवा अपहरण ने चिरकाल के लिए राज्य से वंचित कर दिया था और उसके स्थान पर चन्द्रवंश की स्थापना कर दी थी।

राजभक्ति का शपथ—राज-प्रासाद के खण्डहरों के मध्य में फिमेअनाकस के निकट एक प्रकोष्ठ के स्तम्भों पर आठ शिलालेख खुदे हुए हैं जिन में भिन्न भिन्न प्रान्तों के शासकों के नाम हैं, जिन्होंने सूर्यवर्मा के प्रति राजभक्ति की शपथ खाई थी। ये शिलालेख खमेर भाषा में एक ही वाक्-प्रपञ्च से आरम्भ होते हैं जिनमें शपथ का उल्लेख किया गया है। इसके बाद नामों की सूची दी गई है। अब लगभग ४००० नाम गिने जा सकते हैं। प्रत्येक नाम के पहले म्रातान (शासक) की उपाधि लगाई गई है और फिर स्रोक (प्रान्त) का नाम दिया गया है,—उदाहरणार्थ, म्रातान ख्लोन नागपुर का श्रीरनकेसरी।

राजभक्ति का शपथ इस प्रकार है—"शक संवत् ६३३ के भाद्रपद की शुक्ला नवमी, रविवार। यह है शपथ जिसको तंव्राच-संघ की प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ श्रेणी से सम्बन्ध रखने-वाले हम सब बिना किसी व्यतिक्रम के अपने हाथों को काट कर और अपने प्राणों और कृतज्ञतापूर्ण और विमल भक्ति को महाराजाधिराज श्रीसूर्यवर्मदेव को अर्पण करके, जो शक संवत् ६२४ से राज्य-सुखोपभोग कर रहे हैं, पवित्र अग्नि, पवित्र रत्नों, ब्राह्मणों और आचार्यों के सम्मुख खाते हैं। हम किसी अन्य राजा की प्रतिष्ठा नहीं करेंगे, कभी अपने महाराज से शत्रुभाव नहीं रखेंगे, हम किसी शत्रु का साथ नहीं देंगे और हम अपने महाराज को किसी तरह क्षति पहुँचाने की चेष्टा

नहीं करेंगे। हम उन सब कार्यों को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा करते हैं जो महाराज के प्रति हमारी कृतज्ञतापूर्ण भक्ति के फल हैं। यदि कहीं युद्ध छिड़ जाय तो हम उनके लिए अपने प्राणों की कुछ परवा न करके भक्तिपूर्वक लड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं। हम युद्ध-क्षेत्र से नहीं भागेंगे। यदि हम अकस्मात् मर जाँय, युद्ध में नहीं, और यदि हम आत्म-घात भी कर डालें तो भी हमें उस पुरस्कार की प्राप्ति हो जो स्वामिभक्त भृत्यों का स्वत्व है। चूँकि मृत्यु के दिन तक हमारे जीवन महाराज को समर्पित हैं, हम भक्तिपूर्वक उनके प्रति अपना कर्तव्य निभाते रहेंगे, हमारे मृत्यु का दिन और अवस्थिति चाहे जो कुछ भी हो। यदि कोई काम ऐसा आ पड़े जिसके लिए महाराज हमें विदेश जाने और उसका पूरा वृत्तान्त ढूँढ़ लाने की आज्ञा दें तो हम विस्तार से उसको जानने की चेष्टा करेंगे। यदि हम सब जो यहाँ उपस्थित हैं महाराज के प्रति अपनी राज-भक्ति के शपथ का पालन न करें तो हम प्रार्थना करते हैं कि वे हमें सब प्रकार के दण्ड दें। यदि शपथ को निभाने से बचने के लिये हम अपने आप को छिपावें तो जब तक सूर्य और चन्द्रमा विद्यमान हैं हमारा जन्म बत्तीस नरकों में हो। यदि हम भक्तिपूर्वक अपनी प्रतिज्ञा को निभावें तो महाराज हमारे देश के धार्मिक प्रतिष्ठापनों को बनाये रखने और हमारे परिवारों के भरण पोषण के लिए आदेश कर दें, चूँकि हम महाराजाधिराज श्रीसूर्यवर्मदेव के अनुरक्त अनुयाई हैं......हम इस लोक में और परलोक में उस पारितोषिक के भागी बनें जो स्वामिभक्त भृत्यों को मिलना चाहिए।"

श्रीयुत कड कहते हैं कि राजभक्ति के इस शपथ और आज-कल फ्नौम पेन्ह में राजकर्मचारी जो प्रतिज्ञा करते हैं उस के बीच बड़ा घनिष्ठ सादृश्य है। लगभग एक सहस्र वर्ष के बाद भी प्रायः वे ही शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि ब्राह्मणी पदों के स्थान में बौद्ध शब्दों का प्रयोग होता है।

सूर्यवर्मा का धर्म—जैसा कि उसके पारमार्थिक नाम निर्वाणपद से स्पष्ट है सूर्यवर्मा स्वयं बौद्ध था। लोपबुरी (श्याम में लवपुरी) का १०२२ का शिलालेख उसके एक राज-शासन का उल्लेख करता है जिसमें बौद्ध विहारों के नियम दिये गये हैं। सभी तीर्थ स्थानों, मन्दिरों, विहारों और आश्रमों में तपस्वियों और स्थविरों और महायान भिक्षुओं को अपने पुण्यों को राजा की भेंट करना पड़ता था। धर्मनिष्ठ जनों की प्रार्थनाओं और उनके पुण्यकार्यों में बाधा डालने-वाले लोगों पर अदालत में अभियोग चलाया जाता था और उन्हें उनके अपराध का दण्ड दिया जाता था। किन्तु स्वयं बौद्ध होने पर भी सूर्यवर्मा ने अनेकों शिव-और-विष्णु-मन्दिरों का निर्माण करवाया। उसने जाति-विभाग की प्रथा की भी स्थापना की, क्योंकि यह उसीका काम था कि ब्राह्मण शिवाचार्य अपनी सद्भक्ति के कारण अपनी जाति का अग्रणी बनने के उच्च सम्मान को प्राप्त हुआ—

"श्रीसूर्य्यवर्म्मणो राज्ये वर्ण्णभागे कृतेऽपि यः।
सम्पदं प्राप्य सद्भक्त्या वर्ण्णश्रेष्ठत्वसंस्थितः॥"

एक न्याय-निर्णय—तुओल प्रासात के शिलालेख में एक न्याय-निर्णय का उल्लेखहै—"शक संवत ६२५ में जब महाराजाधिराज जयवीरवर्मा (सूर्यवर्मा प्रथम) अपने जयेन्द्रनगर के महल में था, श्रीपृथ्वीन्द्रपण्डित जिसका काम दण्ड और पुरस्कार देना था और अन्य राजकीय न्यायाधीशों ने राजा के सामने दण्डवत् गिर कर आदरपूर्वक संस्कृत के वे श्लोक पढ़े जो धार्मिक रजिष्ट्रों के अध्यक्ष वाप साह के खेतों और जङ्गलों की बुनियाद और स्थिति से सम्बन्ध रखते थे। दूसरे लोग उस जमीन को अपनाना चाहते थे।" अनुकूल निर्णय के बाद विवाद की सारी भूमि वाप साह को दी गई और उसके सम्बन्ध में एक राज-शासन पत्थर पर खुदवाया गया।

राजगुरु—प्री केव का शिलालेख सूर्यवर्मा के गुरु योगीश्वरपण्डित की चर्चा करता है जिसने हेमगिरि मन्दिर पर पांच शूल बनवाये थे। बारहवें और तेरहवें श्लोक हमें बतलाते हैं कि,—

"यशोधरपुरे चित्रे चतुर्द्वाराग्रमन्दिरे।
रत्नरैरूप्यभाकीर्ण्णे राज्ञो यः संमतोऽनिशम् ॥
सराजगुरुणा होत्रा मन्त्रिमुख्यैः राभाधिपैः।
विप्रैः प्राञ्जलिभिः स्तोत्रैः स्तुत ईशः सपावकः ॥"

'यशोधरपुर के रत्न, सुवर्ण और चाँदी से आकीर्ण, चार द्वारों-वाले देदीप्यमान राज-प्रासाद में राजा निरन्तर उसका सम्मान करता था। यहाँ राजगुरु, प्रधान मन्त्रियों, सभाधिपों,

ब्राह्मणों ने हाथ बांध कर स्तोत्रों से अग्नि-सहित शिव की वन्दना की।' इसमें योगीश्वर की प्रतिमा की प्रतिष्ठापन-विधि को लक्ष्य किया गया है। इससे भी अधिक रोचक बात यह है कि योगीश्वर-पण्डित भास्स्वामिनी नाम्नी ब्राह्मणी का वंशज था। जो जयवर्मा परमेश्वर को ब्याही गई थी,—

''विष्णोर्द्विजस्य या पुण्यामलकस्थलसन्ततौ।
भूयाद्धृदयलक्ष्मीर्भास्स्वामिनी परमेश्वरे॥
सा नीत्युदयदक्षाढ्या शुभलक्षणसंयुता।
तस्याग्रमहिषी देवी यथा गौरी महेश्वरे॥

....

स्वामिन्याः परमेश्वरक्षितिरतेर्य्या साग्रपौत्री तयो
र्भूयात् सत्यवतीति भानुवरविप्रे योषिदर्हा तयोः
श्रीयोगीश्वरपण्डितः सुत इदं राजेन्द्रयानं शिवे।
प्रादाद्धेमगिरेः समापनकृतो राज्ञो गुरुः स्थापकः॥''

विष्णु नामी ब्राह्मण की भास्स्वामिनी नाम्नी पुत्री थी जो उस परिवार में जिसका निवास आमलकस्थल था, परमेश्वर की हृदय-लक्ष्मी बनी। नीति, सौभाग्य, बुद्धिमत्ता में समृद्ध, सभी शुभ लक्षणों से युक्त यह देवी राजा की पटरानी थी··· इस रानी और क्षितिपति परमेश्वर की सत्यवती नाम्नी पौत्री भानुवर नामी ब्राह्मण को ब्याही गई थी, इन दोनों का योगीश्वरपण्डित नामी पुत्र था जिसने शिव को राजेन्द्रयान समर्पित

किया था और जो हेमगिरि को बनाने वाले राजा का गुरु और कार्यस्थापक था। अतः कम्बोडिया में केवल कोई ब्राह्मण ही किसी क्षत्रिय राजकुमारी को नहीं ब्याह सकता था किन्तु ब्राह्मण-कन्या भी किसी क्षत्रिय राजकुमार को ब्याही जा सकती थी।

कवीश्वर—लोवेक का शिलालेख हमें बतलाता है कि सूर्यवर्मा अथर्ववेद में पारंगत, योगाभ्यासी और पाणिनि के व्याकरण का विद्वान् था। उसने कवीश्वर नामी एक बड़े विद्वान् और वैयाकरण को सूर्यपर्वत पर शम्भु का पौरोहित्य प्रदान किया।

श्री जयेन्द्र पण्डित—सदोक काक थाम के शिलालेख से मालूम होता है कि महाराजाधिराज निर्वाणपद (सूर्यवर्मा प्रथम) ने देवराज-धर्मनिष्ठा के पुरोहित सदाशिव को उसके तपस्वि-जीवन से निकाल कर उसको अपनी पटरानी वीर लक्ष्मी की बहिन ब्याह दी और उसे कामस्टेन श्री जयेन्द्र पण्डित की उपाधि से भूषित किया। इस शिलालेख से यह भी मालूम होता है कि सूर्यवर्मा के राजत्वकाल में विद्रोहियों ने मन्दिरों को नष्ट भ्रष्ट किया जिसका उन्हें कठोर दण्ड दिया गया।

१०४४ में चामों के एक आक्रमण की भी हमें सूचना मिलती है।

राज्य-प्रासाद की अलंक्रिया—वह अपने राजत्व-काल के आरम्भ ही से यशोवर्मा के बनाये हुए राज-प्रासाद को

जिसे अँगकोर के दो प्रसाधक राजकुमारों ने विस्तृत और अलंकृत किया था, बहुत पसंद करता था। । वह "जयेन्द्रनगरी के चार पवित्र द्वारों, यशोधरपुर को अधिष्ठित किए हुए चार द्वारों वाले राजप्रासाद" का राजा था । और इन्हीं चार द्वारों के सुचारु दिव्य भवन पर ही उसने अपने राज्य के वर्ष में, सन् १०११ में, प्रभुनिष्ठा और सद्भक्ति का धर्मोपदेश खुदवाया था जिसकी सौगंध उसके राष्ट्र के शासकों और उच्च कर्मचारियों ने ली थी । यहीं हेमशृङ्गगिरि पर उसने "गुण-दोष-विवेचन" के जैसे उच्च पदों को प्रदान किया था । यही नहीं, उसने इस भवन को पूरा करवाया था और अलंक्रिया से उसकी शोभा बढ़ाई थी ।

एक महाविद्यालय की स्थापना—प्राह खान के शिलालेख से मालूम होता है कि विद्वानों के आश्रयदाता सूर्यवर्मा प्रथम ने एक महाविद्यालय की स्थापना की थी जिसका अभ्यन्तर सत्यता और सद्भाव के और बाह्य भाग सौन्दर्य के अर्पण किया गया था ।

सूर्यवर्मा का चरित्र—श्रीयुत पेमोनिए उक्त बातों के आधार पर सूर्यवर्मा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि वह हमें सम्भवतः मायावी, धार्मिकंमन्यता के गहरे रङ्ग में रंगा हुआ उस समय के सभी ज्ञात सम्प्रदायों में अति अनुरक्त दारुण कामचारी, हठीला और स्फूर्तिमान प्रतीत होता है ।

धार्मिक प्रतिष्ठापन—संक्षोभ और दबाव के इस राजत्व-काल की सम्पूर्ण अभिरुचि अनेकों बौद्ध और ब्राह्मण

धार्मिक प्रतिष्ठापनों में केन्द्रीभूत थीं। सूर्यवर्मा ने उस सौगताश्रम का जीर्णोद्धार किया जिसे नवीं शताब्दी के अन्त में यशोवर्मा ने अपने राजमहल के सामने उस स्थान पर बनवाया था जो इस समय तेप प्रानाम कहलाता है। इस आश्रम की चौकसी के लिए उसने कुछ दास भी प्रदान किये। उसने कतिपय बौद्ध भिक्षुओं को प्रचार के लिए भेजा, जो मेनाम के परिसर में अनेकों दूरवर्ती स्थानों को "आचरण के उन धार्मिक नियमों को ले गये जिनको जानना और मानना सब के लिए आवश्यक था।"

विष्णु और शिव के लिए उसने बहुत से दिव्य-भवनों का प्रतिष्ठापन किया; उसने अनेकों मन्दिरों को बनवाया अथवा उनका जीर्णोद्धार करवाया।

निश्चयात्मकता का स्पर्श करने वाली संभावनाओं के साथ निम्न लिखित स्मारकों के निर्माण का श्रेय सूर्यवर्मा प्रथम को दिया जा सकता है—अँगकोर के पश्चिम में ता केओम; कौंपौंग स्वे के उत्तर में फ्नौम साण्डाक; वास्तविक लाओस के सिसकेत प्रान्त में वान कम्पेङ्ग; शङ्ग प्रेइ प्रान्त में बौस प्रीह नान; बाँटाम्बाँग प्रान्त में बाँटेइ प्रेओ; इसी प्रान्त के प्रमुख स्थान के निकट वाट एक और बासेट; बाटि प्रान्त में फ्नौम शिसोर; कूखान प्रान्त में दानग्रेक पर्वत पर फ्नौम प्रेआह विहेअर; अँगकोर के निकट ता केव अथवा प्रेआह केव; और अन्ततः कौंपौंग स्वे प्रान्त में राजकीय निवास जो इस समय प्रखान कहलाता है।

'वाट एक' का मन्दिर—यहाँ पर यह कह देना

अप्रासंगिक न होगा कि ता केव के पृथुल और भारी पिरामिड और सम्भवतः उच्छ्रित किनारे-वाले जहाज की भाँति स्थित पिरामिड की प्रवृत्ति-वाले 'वाट एक' के मन्दिर को छोड़ कर इस राजत्व-काल के अन्य सभी स्मारकों में अल्पविस्तर अथवा कम महत्त्व के निर्माण संमिलित हैं; यद्यपि ये निर्माण अपनी उत्कृष्ट रचना, चारुता और सजावट की सावधानता के लिए उल्लेखनीय हैं।

'वाट एक' बाटाम्बाँग नगर से कुछ मील उत्तर की ओर एक पिरामिड की आकृति का मन्दिर है जो सन् १०२७ में राजगुरु श्री योगीश्वर पण्डित द्वारा शिवलिङ्ग के लिए प्रतिष्ठा-पित किया गया था।

बासेट मन्दिर—यह १०४२ अथवा १०४६ की बात है जब वह मन्दिर, जिसे आज बासेट कहते हैं, बाटाम्बाँग नगर से कुछ दूर पूर्व में श्री जयक्षेत्र नामी इष्ट देव के लिए प्रतिष्ठापित किया गया था। यह मन्दिर सादे ढँग का और तोरण-द्वारों से सम्पन्न परिधियों से युक्त है; उसमें ईंट के बने हुए अनेकों बुर्ज और वालुका-पाषाण के तीन दिव्य भवन सम्मिलित थे। यहाँ ब्राह्मणी विषयों की अलंक्रियाएँ भली भाँति तक्षण की गई हैं।

ता केव अथवा प्रीह केव—ता केव अथवा प्रीह केव भी राजगुरु और पुरोहित योगीश्वर पण्डित का धार्मिक प्रतिष्ठापन है। यह अँगकोर के पूर्व में ता प्रोम के मन्दिर के उत्तर की ओर नदी और यशोधर के विशाल तड़ाग के मध्य

में—जो अब सूखा पड़ा है—स्थित है । यह स्मारक छिन्न-शिरस्क, पृथुल और तीन अवस्थानों में बना हुआ है, जिन पर पाँच बुर्ज अथवा दिव्य भवन मुकुट रूप से विद्यमान हैं। उसकी परिधि पन्द्रह सोलह गज चौड़ी एक गहरी खाई है जिसका परिमाण पूर्व-पश्चिम को २४० गज और उत्तर-दक्षिण को १३० गज है; यह खाई पूर्वी मुख के मध्य में एक अपूर्व सेतु-बन्ध से पार होती है और सर्वत्र अविच्छिन्न है। प्रथम प्राघाण पूर्व-पश्चिम को १३० गज लम्बा और उत्तर-दक्षिण को ११० गज चौड़ा है और उसकी ऊँचाई लगभग १० फीट है; उस पर चढ़ने के लिए चारों मुखों पर सोपान-पंक्तियाँ बनी हुई हैं।

द्वितीय प्राघाण, जो पूर्व-पश्चिम को ८८ गज लम्बा और उत्तर-दक्षिण को ८२ गज चौड़ा है, एक ११ गज ऊँचे विशाल अवस्थान पर स्थित है; इसकी दीवारें वालुका-पाषाण की बनी हुई हैं और उसका ऊपरी भाग दन्तकों पर परिलम्बित है। चारों मुखों पर सोपान-पंक्तियाँ तोरण-द्वारों तक चली गई हैं जिन पर अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। सारी दन्तक-पंक्ति पर एक आयताकार गैलरी अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुई है, जिसकी स्तम्भ-पंक्ति अनेकों झरोखों से विच्छिन्न है और जो चतुरस्र अट्टालिकाओं से अलंकृत है। अन्दर की ओर दो देवालय बने हुए हैं।

तृतीय प्राघाण का बन्ध छः सात फीट से अधिक ऊँचा नहीं है। उसकी प्रत्येक भुजा लगभग ५२ गज लम्बी है। इस ऊपरली अधित्यका पर पाँच दिव्य भवन स्थित हैं जिन पर

वालुका-पाषाण की ऊँची अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। केन्द्रस्थ अट्टालिका, जिसका उच्छ्राय कहीं अधिक विशाल था, पाँच छः गज के आधार-बन्ध पर स्थित थी। उस पर चढ़ने के लिए चारों मुखों पर सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। ज़मीन से उसकी ऊँचाई पचास गज से अधिक थी।

ता केव प्रभावोत्पादक अवयवानुपातों से युक्त स्मारक है और उससे सादगी और ओजस्विता प्रदर्शित होती हैं; किन्तु उसकी विशेषता को बढ़ानेवाले उसकी निष्प्रभ महत्ता और सजावट का अभाव हैं।

आरम्भिक यूरोपियन यात्रियों के आने के समय वहाँ शिव और देवी दुर्गा की मूर्तियाँ विद्यमान थीं, जिनका प्रतिष्ठापन निःसन्देह मन्दिर के स्थापक योगीश्वर पण्डित ने किया था। यह दारुण, सम्भवतः ख़ूनी धर्मनिष्ठा से सम्बन्ध रखनेवाला मन्दिर शिव कपालेश्व को समर्पित किया गया था। मालूम होता है उसका प्रमुख पुरोहित साधारणतया 'गुण-दोष-विवेचन' का अधिकारी ब्राह्मण अर्थात् दण्ड-नीति का अधिष्ठाता होता था।

कौंपौंग स्वे का प्रखान—कौंपौंग स्वे का प्रखान अँगकोर के प्रखान से लगभग ८० मील पूर्व की ओर स्थित है। यह एक अति महत्वपूर्ण स्मारक है। उसके भवन व्यष्टि अथवा समष्टि रूप से पूर्व-पश्चिम को नहीं किन्तु उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम को आयत हैं। इस विसंवादिता का कोई कारण दृष्टि-गोचर नहीं होता।

प्रधान स्मारक के निकट चार गहरे विस्तीर्ण जलाशय बने हुए थे। इन जलाशयों के परिसर में द्वितीय श्रेणी के दो सुचारु मन्दिरों के ध्वंसावशेष देखे जा सकते हैं, जहाँ पहुँचने के लिए सेतु-बन्ध बने हुए थे और जिसको प्राङ्गण और मठ घेरे हुए थे।

हस्ति-देव—इन मन्दिरों में से एक पिरामिड की आकृति का है जिसका प्रत्येक पार्श्व आधार पर २२ गज लम्बा है और जिसकी ऊँचाई सात आठ गज है। अनेकों सिंह, हाथी और रक्षकों की प्रतिमाएँ उसकी सोपान-पंक्तियों और उसके अवस्थानों की शोभा बढ़ाती थीं। इस अल्पपरिमाण स्मारक के पवित्र हाथियों की सुन्दर प्रतिमाओं के कारण यहाँ के निवासियों ने उसका नाम 'प्रीह डमरेइ' अर्थात् हस्ति-देव रक्खा था।

उच्छ्रित देव—दूसरा अल्पविस्तर मन्दिर, जिसे 'प्रीह थकोल' अर्थात् उच्छ्रित देव कहते हैं, एक ऊँची और सुन्दर अट्टालिका के रूप में था और सुसम्पन्नता से सजा हुआ था।

प्रखान का प्रधान स्मारक प्राचीर-बन्ध और गहरी परिखाओं से घिरा हुआ था। खाई को पार करने के लिए पुल बने हुए थे जिनके कँगूरे बहुशिरस्क सर्पों से अलंकृत थे और जो चारों तोरण-द्वारों को चले जाते थे। विस्तारपूर्वक परिकल्पित किन्तु विशाल निर्माणों से रहित उसकी आयोजना अट्टालिकाओं से युक्त सुन्दर तोरण द्वारों, बाह्य स्तम्भ-पंक्ति-

युक्त गैलरियों, प्राघाणों और देवालयों की संवादिनी समष्टि को प्रदर्शित करती थी। वालुका-पाषाण अत्यन्त बृहदाकार थे। उनके तक्षण अत्यन्त उत्कृष्ट युग की सूचना देते हैं। यह स्मारक इस समय अत्यन्त उजाड़ हालत में है।

बौद्ध धर्म और शैव सम्प्रदाय का एकत्र संनिवेश—इस मन्दिर में सूर्यवर्मा ने दो पृथक् धर्मनिष्ठाओं का एकत्र संनिवेश किया था शैव सम्प्रदाय और बौद्ध धर्म को एक ही सूत्र में संनिहित किया था। बौद्ध मत का प्रधान्य होने पर भी महायान बौद्ध धर्म शैव धर्मनिष्ठा से ओत प्रोत भरा पड़ा था। पचास वर्ष पूर्व यहाँ बुद्ध की अनेकों प्रतिमाएँ विद्यमान थीं जिन्हें यूरोप निवासी उठा ले गये हैं। ये प्रतिमाएँ प्रभु को ध्यानावस्थित हालत में और नाग पर बैठे और विश्रान्ति लेते हुए प्रदर्शित करती थीं, नाग की फणाएँ महात्मा बुद्ध की रक्षा में संलग्न थीं।

इस स्मारक के द्वार-स्तम्भ पर खुदा हुआ अपूर्व संस्कृत शिलालेख शिव और बुद्ध दोनों की वन्दना करता है और उनमें दार्शनिक और तपस्वी की विशेषता के प्राधान्य को प्रदर्शित करता है सूर्यवर्मा के विषय में शिलालेख कहता है कि "उसने इस अनवद्य भवन को बना कर पुण्य कर्म किया।"

अभिवादननित्यपुर—सूर्यवर्मा के लिए निःसन्देह यह विस्तीर्ण निवास एक अप्रतिम कार्य था। श्रीयुत पेमोनिए का विश्वास है कि उसने इस नगरी का नाम अभिवादननित्यपुर रक्खा था।

दानग्रेक पर्वतमाला—दानग्रेक पर्वतमाला के एक बढ़े हुए शिखर पर प्रीह विहेअर का मन्दिर उस स्थिति की विचित्रता के कारण विशेषकर उल्लेखनीय है जो कम्बोडिया में अपना सादृश्य नहीं रखती और संसार के अन्य सभी देशों में भी दुर्लभ है।

कम्बोडिया के निवासी फ्नौम दानग्रेक को तुला-पर्वत कहते हैं। वालुका-पत्थर के भारी भारी आस्तरणों से युक्त दानग्रेक पर्वत लगभग १,००० फीट ऊँचा है और पूर्व-पश्चिम को ३३० मील दूर तक चला गया है। लाओस की अधित्यका की आश्रयभित्ति के रूप में यह पर्वत-परम्परा लाओस और कम्बोडिया के निचले मैदानों की सतह के अन्तर को प्रदर्शित करती है। एक उच्छ्राय से दूसरे उच्छ्राय को चढ़ते हुए उसमें थोड़े से विकट दर्रे चले गये हैं।

उसका उत्संग शनैः शनैः मून नदी की ओर ऊपरली अधित्यका को अवतरण करता है, जहाँ वह कई सहायक नदियों को ले जाता है। किन्तु दूसरी ओर वह अनवरत उत्सर्पी और वनमय है और कहीं कहीं कम्बोडिया के मैदान के प्रथम उच्चावचों के जङ्गलों के ऊपर परिलम्बित है। पर्वत-तट के प्रपात कहीं कहीं इतने आकस्मिक हैं कि उत्तर से आते समय उनकी पहले से कोई सूचना ही नहीं मिलती; वह अधिकतर दलदलों से घिरा हुआ है अथवा उदग्र भूभागों में समाप्त होता है, जो दोनों प्राघाणों पर प्रभुत्व स्थापित करनेवाले वास्तविक उत्सेधों का रूप धारण करते हैं।

प्रीह विहेअर—इन उदग्र भूभागों में से एक के किनारे पर उस मन्दिर की स्थापना हुई थी जिसे इस समय प्रीह विहेअर कहते हैं । उत्तर की ओर से पहुँचा जाने वाला यह उदग्र भूभाग एक मन्द उत्सर्पी मार्ग पर आरोहण करता है और कुछ सौ गज की एक शृङ्खला को पार कर जाता है । जब मौसिम साफ होता है और वर्षा कोहरे को छिन्न भिन्न कर देती है तो इस चील के घोंसले से दृष्टि बिना किसी व्यवधान के चारों ओर—पर्वत के दीर्घ तट पर, लाओस की अधित्यका के ऊपर—प्रसारित होती है । मध्य में, चक्कर लाने वाले प्रलम्बित शिखर पर, चार पाँच गज से ५५० गज तक के गह्वर में, प्रस्खलित प्रपात से परे कम्बोडिया के विस्तीर्ण मैदान के अन्त के विना, पहाड़ियों, उच्चावचों और अरण्य-प्रदेशों पर यह दृश्य विलीन होजाता है ।

मन्दिर का विन्यास प्रशंसनीय ढंग पर इस महत्त्वपूर्ण स्थिति के अनुकूल था । उसका मुख असाधरणतया किन्तु स्वभावतः उत्तर की ओर था, क्योंकि इसी ओर से वहाँ को मार्ग जाता है । उसके जलाशयों, वीथिकाओं, बाह्य गैलरियों के उतराव की ओर सोपान-पंक्तियाँ बनी हुई थीं । अन्तिम उत्सेध पर परिधि की एक दीवार, दिव्य भवन और अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं । दिव्य भवनों की इस छोटी परिधि के अन्दर, मन्दिर के पीछे, एक त्रिभुजाकार खाली स्थल छूटा हुआ था । यह अपूर्व विस्मयावह उच्छ्राय उसके पुरोहितों के लिए सुरक्षित था ।

उसके लालिमायुक्त वालुका-पाषाण निकट ही दान-ग्रेक

पर्वत से निकाले गये थे; इस परिस्थिति में खनाई के चिह्न अभी तक सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

प्रीह विहेश्वर के तत्तण संयमित किन्तु सावधानता के प्रदर्शक हैं। आयोजना, निर्माण, सजावट, सभी कुछ इस अलोकसुन्दर स्थिति के मन्दिर में अनवद्य था।

इस स्मारक के शिलालेखों से मालूम होता है कि सूर्यवर्मा प्रथम ने सन् १०३८ में उसे "श्री शिखरेश्वर" शिव के लिए प्रतिष्ठापित किया था।

पूर्व पुरुष सूर्य का पर्वत—फनौम शिसोर—पूर्व पुरुष सूर्य का पर्वत—एक छोटी सी पहाड़ी का नाम है जो बाटी प्रान्त के दक्षिण में अकेले स्थित है और अँगकोर बोरेई अर्थात् आठवीं शताब्दी से पूर्व की कम्बोडिया की प्राचीन राजधानी व्याधपुर की अवस्थिति से दूर नहीं है।

यह पर्वत, जिसकी ऊँचाई १०० गज से कुछ अधिक होगी, पूर्वी पार्श्व पर शिखर से बीस बाईस गज नीचे एक समस्थली में, जिसे एक मन्दिर के निर्माण के लिए तैयार किया गया था, कटा हुआ मिलता है। यद्यपि उसकी अवस्थिति प्रीह विहेश्वर की महत्ता को नहीं पहुँच सकती, तथापि उसमें विचित्रता का अभाव नहीं है। मध्यकालीन दुर्ग की भाँति सिर ऊँचा किये हुए यह उच्छ्राय निम्न मैदानों और उस प्रदेश की अन्य पहाड़ियों के ऊपर एक अपरिमित दृश्य का आनन्द-लाभ कराता है।

इस स्मारक के सामने लगभग ११०० गज की दूरी पर एक विशाल आयताकार तड़ाग खुदा हुआ था, जहाँ से एक

वीथिका आरम्भ होती थी जिसके किनारों पर निःसन्देह देशी लोगों के घर बने हुए थे और जिसको वालुका-पाषाण के बने हुए दो विस्तीर्ण कूशाकार भवन विच्छिन्न करते थे; उनकी छत विगलनशील निर्माण-सामग्री की बनी हुई होने के कारण विलुप्त हो चली है। इनमें से एक वीथिका के मध्य में और दूसरा पर्वत के पाद पर स्थित था। पिछले भवन से उत्सर्पी उत्संग पर लाइमोनाइट की एक सोपान-परम्परा, जो आरम्भ में विस्तीर्ण और आधार पर सुगम है किन्तु बाद को संकीर्ण और भृगुपथीन हो चली है, परिधि की तंग गैलरी से तोरण-द्वार को चली गई है।

स्तम्भों पर झरोखों से छिदी हुई वालुका-पाषाण की यह गैलरी उस अनन्यसामान्य प्राङ्गण की एक मात्र परिधि थी जहाँ अण्डाकार गुम्बद वाले, ईंट के बने हुए, दीर्घ, केन्द्रस्थ दिव्य भवन की चारों ओर अनेकों छोटी छोटी अट्टालिकाएँ और देवालय खड़े थे।

प्रतिष्ठापन के समय प्रस्तुत पर्वत का नाम सूर्यपर्वत था जो अपने परिवर्तित रूप में अभी तक विद्यमान है। राज-प्राङ्गण को अलंकृत करनेवाले व्यक्तियों में से एक, स्मारक के स्थापक, ब्राह्मण शिवाचार्य ने १०१५ और १०१६ के बीच उसे प्रतिष्ठापित किया था।

सूर्यवर्मा की प्रतिमा—१८७४ में, जब श्रीयुत पेमो-निए यूरोपनिवासियों में से सबसे प्रथम इस ध्वंसावशेष को देखने गये थे, उसके दिव्य भवन में एक आसीन राज-व्यक्ति

की एक छोटी सी प्रतिमा विद्यमान थी। १८८२ में जब वे दुबारा वहाँ गये तो उन्होंने उसे वहाँ नहीं पाया। सम्भवतः अब वह फ्राँस के किसी अजायबघर में है। यह प्रतिमा बायें घुटने के बल ज़मीन पर आसीन थी। उसके कान कुण्डलों से अलंकृत थे, उसके सिर पर कोणाकार राजमुकुट था; वह अपने प्रत्येक हाथ में किसी अस्पष्ट वस्तु को थामे हुई थी। उसका परिचित आसन, उसके विशाल खुले नेत्र उसे वास्तविकता का प्रत्यक्ष आभास देते थे। उसके मुख से वह सजीवता और भावभङ्गि झलकती थी जो कम्बोडिया की और किसी प्रतिमा में दृष्टिगोचर नहीं होती। ऐमोनिए का अनुमान है कि वह सूर्यवर्मा प्रथम की प्रतिमा थी जिसे परिमाण में अति अल्प बनाया गया था—आसीन मूर्ति की ऊँचाई २ फीट के लगभग थी।

सूर्यवर्मा प्रथम, जो अपने सभी देवताओं का परम भक्त था, मरते समय बौद्ध मतानुयायी रहा होगा, जैसा कि उसके पारमार्थिक नाम "निर्वाणपद" से सूचित होता है।

सूर्यवर्मा के उत्तराधिकारि।

उदयादित्यवर्मा द्वितीय।

उदयादित्यवर्मा द्वितीय का पारमार्थिक नाम मालूम नहीं है। उसने सन् १०५० से एक अज्ञात समय-सम्भवतः १०६८-तक राज्य किया। इस सम्बन्ध में हम केवल इतना ही जानते हैं कि वह सन् १०६७ में उदयादित्यवर्मा नाम से राज्य करता था। वह १०६८ तक सिंहासन पर स्थित रहा होगा; क्योंकि, जैसा हम आगे देखेंगे, उसका उत्तराधिकारी १०६९ में राज्य करता था।

उस के राज्याभिषेक का समय—यद्यपि उसके राजत्वकाल का निश्चयात्मक अन्त विदित नहीं है, उसके राज्याभिषेक का समय असाधारणतया निश्चित है। देशी संवत् ९७७ (?) के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को, तदनुसार सन् १०५० के मार्च के आरम्भ में सूर्यवर्मा का स्वर्गवास होने पर उदयादित्यवर्मा को उसके मंत्रियों ने चक्रवर्तित्व-पद पर अभिषिक्त किया—"...स्वर्गते सूर्य्यवर्म्मणि मंत्रिभिश्चक्रवर्त्तित्वे योऽभिषिच्यत...।" अतएव सूर्यवर्मा प्रथम की मृत्यु, जो निःसन्देह हाल ही में हुई थी, १०५० की जनवरी अथवा फरवरी में रक्खी जानी चाहिए। उस समय तक वह ४८ वर्ष राज्य कर चुका था।

निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह सूर्यवर्मा का पुत्र था या पौत्र। वह यशोवर्मा के दो पुत्रों और उत्तराधिकारियों को अपना पूर्वपुरुष मानता था।

उदयादित्यावर्मा का चरित्र—लोवेक के शिला-लेख में उसकी गुणगरिमा की चर्चा इस प्रकार की गई है—

"उदयादित्यवर्म्माथ क्षोणीन्द्रः क्षगदाकरः।
कीर्त्तिज्योत्स्नाभिरुर्व्वीन्द्रवंशक्षीरार्णवेऽभवत् ॥
योपितो वपुपा योधान्वीर्य्येण विबुधान् गुणैः।
लोकाञ्छक्त्या द्विजान् दानैः वश योयोजयत्तराम ॥"

'यशरूपी चाँदनी से युक्त पृथिवीपति उदयादित्यवर्म-चन्द्र ने राजवंश रूपी क्षीरसागर में जन्म ग्रहण किया। वह शरीर (रूप-सम्पदा) से रमणियों को, पराक्रम से योद्धाओं को, सद्गुणों से बुद्धिमानों को, शक्ति मे जन साधारण को और दान से ब्राह्मणों को मोहने में सब से बढ़ कर था।'

चरणरज जयेन्द्रवर्मा—वह अभी अति तरुण रहा होगा क्योंकि उसका गुरु जयेन्द्रपण्डित (प्रचीन सदाशिव), जिसने सूर्यवर्मा के समय रानी की बहिन से ब्याह किया था, अभिषेक के बाद भी उसे शिक्षा देता रहा। उसने उसे व्याकरण, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञान, धर्मशास्त्र और अन्य शास्त्र पढ़ाये और भुवनाध्व, ब्रह्मयज्ञ और महोत्सवपूजा के अनुष्ठान में उसे राज-धर्मनिष्ठा की दीक्षा दी। राजा ने अपने गुरु को मुकुट, कुण्डल, कँगन आदि आभरण, २०० हाथी और एक

हजार दास उपहार में दिये और उसे धूलि जेंग (चरणरज) की सबसे ऊँची उपाधि और जयेन्द्रवर्मा नाम प्रदान किया। अन्य विश्रुत पण्डित भी इस नये सम्राट् के दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

उसकी राजधानी—वह बहुधा अभिवादननित्यपुर में रहा करता था, जिसका तादात्म्य श्रीयुत ऐमोनिए ने काँपौंग स्वे के प्रखान से किया है और जिसको उनके कथनानुसार सूर्यवर्मा प्रथम ने स्थापित किया था। किन्तु उसकी राजधानी यशोधरपुर में ही थी, जहां—

"वीक्ष्य मध्यस्थहेमाद्रिजम्बुद्वीपं सुरालयम्।
अन्तस्स्वर्णाद्रिमकरोत् स्वपुरीं स्पर्द्धयेव यः॥"

'यह देख कर कि जम्बुद्वीप के मध्य में देवताओं के रहने के लिए एक सुवर्ण-पर्वत विद्यमान है उसने उसकी स्पर्द्धा से नगर के मध्य में एक हेम-गिरि का निर्माण किया।' इस पर्वत के शिखर पर एक देदीप्यमान सुवर्ण-मन्दिर के अन्दर उसने एक शिवलिङ्ग का प्रतिष्ठापन किया था, जिसे नियम पूर्वक नियत समय पर स्नान कराया जाता था। यहाँ उदयादित्यवर्मा द्वितीय ने बुद्धिमान् शङ्करपण्डित को गुरु नियुक्त किया था।

अतः यह तीसरा सम्राट् था जिसे हेमश्रृङ्गगिरि के निर्माण का सन्मान प्राप्त है।

चमूपति संग्राम—राजाओं के खूनी संघर्षों के अतिरिक्त समय समय पर देश में उसके ब्राह्मणों और अपरि-

जिसका आतङ्क छाया हुआ था। शिलालेख उसके विषय में कहता है,—

"आसीद्रामाद्रिरन्धैर्य्यो द्विडिन्द्रो दुर्दमो मृधे।
अरविन्दहूदाभिख्यो दारुणो दक्षिणापथे॥
शास्त्रार्थविद्वीरो वशी वीरवलो बली।
स दृप्तो दक्षिणाशायां धाम्ना दध्रेऽर्द्धमेदिनीम्॥"

'शक संवत् ६७३ में दक्षिण में अरविन्दहृद नामी एक विद्रोही दारुण अधिनायक था जिसे युद्ध में पराजित करना अति कठिन था। वह शास्त्रों का जानने वाला, समर्थ और आत्मसंयमी था, उसके पास एक वीर-सेना थी और वह स्वयं शक्तिशाली था। यह स्वाभिमानी वीर दक्षिण में अपने प्रताप से आधा पृथ्वी को धारण करता था।' इस विद्रोही के विरुद्ध राजा ने अनेक वीर सेनापति भेजे किन्तु उसने उन सबको पछाड़ डाला। और उनकी सेनाओं को छिन्न भिन्न कर डाला। आख़िर सेनाध्यक्ष संग्राम ने राजा के सम्मुख उपस्थित होकर उसे विनीत भाव से प्रार्थना की—

"प्रसक्तिं कुरु राजेन्द्र दुर्ज्जयं तं रिपुं परैः।
शक्तोऽस्मि तव शक्त्याजौ विजेतुं मां नियोजय॥"

'राजाधिराज, मुझ पर एक अनुग्रह कीजिये। आपके प्रताप से मैं युद्ध में इस शत्रु पर विजय प्राप्त करूंगा, जिससे दूसरे हार मान चुके हैं। आप मुझे इस काम के लिए नियुक्त

कीजिए।' सम्राट् ने उल्लास से उत्तर दिया.—"बहुत खूब! बहुत खूब!! वीर! जैसी तुम्हारी इच्छा है मैं वैसा ही करना चाहता हूँ।" यह सुन कर जनरल संग्राम राजा को प्रणाम करके अपनी सेना के साथ चटपट दुर्धर्ष शत्रु का सामना करने के लिए रवाना हुआ।

शत्रुसेना के निकट पहुँच कर सेनाध्यक्ष संग्राम ने शत्रु को उसके दुःसाहस के लिए दुतकारा,—

"धरित्री वीरभूपेन्द्रपाल्येयं क्वासि कातरः।

संरक्षणाक्षमः क्वेति मोहान्नो मंड मन्यसे॥"

'कहाँ वीर सम्राट् से शासन की जाने वाली यह पृथिवी और कहाँ तू कायर! तू उसकी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है, मोह-वश तू हमें तुच्छ समझता है।' इस प्रकार सम्बोधित किये जाने पर रणधीर अभिमानी शत्रु ने क्रोध से उत्तर दिया,-

"मा मा भावय युद्धं हि विध्यस्फुटजयं पुरा।

क्ष्मामिमां चास्फुटपतिं तस्मान्नो मावमन्यसे॥"

'मुझे भय न दिखाओ। तुम्हें यह जान लेना चाहिए कि अतीत काल में लड़ाई का परिणाम प्रायः अनिश्चित ही रहा है और पृथिवी भी अपना पति बदलती रही है। अतएव तुम्हें मेरा तिरस्कार नहीं करना चाहिए।' तब संग्राम ने बाणों की वर्षा आरम्भ की और अरविन्दह्रद, जितनी जल्दी हो सका, चम्पा को भाग चला। शत्रु के छिन्न भिन्न होजाने पर संग्राम राजतीर्थ के ईश्वर (शिव) के पास गया।

दूसरा विद्रोह—दूसरे विशाल विद्रोह की रङ्गस्थली राज्य के उत्तर-पश्चिम में है। इस बार शत्रु कँवो नामी एक सेनापति था। वह एक प्रशस्त गुप्तचर, चतुर और राजा का प्रेमपात्र था। अपने मन में अपने आश्रय-दाता को, जिससे उसने महत्ता प्राप्त की थी, नष्ट करने की ठान कर एक दिन वह असंख्य सेना के साथ नगर से निकला। इस भली भाँति सशस्त्र टिड्डीदल सैन्य से मर्त्य होने पर भी रावण की तरह सारे देवताओं को जीतने की कामना करता हुआ, देश को लूटता पाटता, वह उस स्थान तक पहुँचा जहाँ वीर संग्राम निवास करता था। उसने राजा के भेजे हुए जनरलों और सेनाओं को हराया और विजय के साथ उनका पीछा किया। उसने सर्वत्र लिङ्गों और मूर्तियों को तोड़ा। संग्राम उससे लड़ने को उद्यत हुआ। उसने कँवो का पीछा किया, जो "पृथु शैल" के शिव-मन्दिर को पीछे हट चला था। यहाँ संग्राम ने शिव की आराधना की और फिर रण-क्षेत्र में डट कर युद्ध करने लगा। विरोधी सेनाध्यक्षों ने एक दूसरे को सम्बोधित किया। दोनों ओर से वीर योधा टूट पड़े। कँवो ने एक तीर जो छोड़ा तो वह सीधे संग्राम की दाढ़ पर जा लगा। किन्तु इससे विचलित न होकर उसने भी तीन तीर छोड़े जो विद्रोही के सिर, गले और वक्षःस्थल में जा चुभे। कँवो धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ा और उसने ज़ोर से करुण क्रन्दन किया। शत्रु के सेना सहित यमपुर पहुँच जाने पर विजयी संग्राम "पृथु शैल" के शिव-मन्दिर को वापिस आया। वहाँ उसने फिर शिव की

आराधना की और जो कुछ सम्पत्ति उसके पास थी वह सब मन्दिर को अर्पण करदी।

तीसरा विद्रोह—अन्ततः राज्य के पूर्वी प्रदेश में एक और विद्रोह को शान्त किया गया। रल्लो और सिद्धिकर नामी दो भाइयों ने एक और आदमी की सहायता से विद्रोह का झगडा खड़ा किया। संग्राम ने उनका सामना करने के लिए प्रस्थान किया। शत्रु अधिनायकों ने उसे दुतकारा। रल्लो बाणों के लगने से पङ्गु हो गया। सिद्धिकर युद्ध में काम आया और सेनाएँ भाग चलीं। विजयी संग्राम ने चुंचुम वन के मन्दिर के निकट—सम्भवतः सिथोर प्रान्त में—डेरा डाला, जहाँ उसने धर्मनिष्ठा के कार्य और प्रतिष्ठापन किये।

विजय-श्री पर पूर्णतया अधिकार कर लेने के बाद वह लड़ाई के कैदियों को लेकर राजा के पास गया। राजा ने उसका अभिनन्दन किया और उसने युद्ध में जो कुछ धन प्राप्त किया था वह उसे ही दे दिया। संग्राम ने अपने सम्राट् से प्रार्थना की—"दयामय, यदि आप मुझ पर दयालु हैं तो आज्ञा कीजिए कि मैं इस लूट की सम्पत्ति को सुवर्ण-लिङ्ग में स्थित आपकी सूक्ष्म आत्मा की भेंट करके अपनी राजभक्ति का फल प्राप्त करूँ।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और यह घोषणा की कि युगपर्यन्त (४,३२,००० वर्ष) संग्राम की राजभक्ति का कीर्तन होता रहेगा। संग्राम ने आनन्दनिर्भर हृदय से राजा को दण्डवत् प्रणाम किया।

भग्न शिव—प्रासत प्राह खसेट का सन् १०६६ का

शिलालेख भी इसी राजत्वकाल से सम्बन्ध रखता है। उसमें उदयादित्यवर्मा के भानजे संकर्ष के द्वारा एक लिङ्ग के पुनरुद्धार की चर्चा है। शक संवत् ९८९ में उसने ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की प्रतिमाओं के विचित्र संमिश्रण की प्रतिष्ठापना की। यहाँ बुद्ध त्रिमूर्ति में शिव के स्थान को ग्रहण करता है। किन्तु लिङ्ग और प्रतिमाओं का सारा समुदाय शिव को समर्पित किया गया है जिसका आह्वान यहाँ "भग्न शिव" नाम से किया गया है।

---:o:---
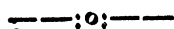
हर्षवर्मा तृतीय।

उदयादित्यवर्मा द्वितीय के बाद उसका छोटा भाई हर्ष-वर्मा तृतीय राज्य का अधिकारी बना। उसके अभिषेक अथवा मृत्यु का निश्चित समय विदित नहीं है। केवल इतना कह सकते हैं कि वह १०६८ से १०९० तक राज्य करता था। उसका पारमार्थिक नाम सदाशिवपद था।

लोवेक का शिलालेख—लोवेक का शिलालेख उसकी चर्चा करते हुए कहता है—"उदयादित्यवर्मा के परम धाम को पहुँचने पर उसका छोटा सहोदर भाई प्रजा के हर्ष के लिए राजा बना। जिस प्रकार वशिष्ठ ने राम का राज्याभिषेक किया था उसी प्रकार राजगुरु शङ्करपण्डित ने मंत्रियों की सहायता से उसका अभिषेक किया और उसे सिंहासन पर स्थापित किया। गाधिसूनु (विश्वावित्र) अपनी राज-शक्ति के द्वारा (वशिष्ठ से) नन्दिनी धेनु को नहीं छीन सका किन्तु हर्षवर्मा जानता था कि उसे अनुनय विनय और बल से किस प्रकार वश में किया जा सकता है।......जाति-प्रथा का दृढ़ता से पालन करने से उसने प्रजा में शान्ति स्थापित की।"

यह लेख स्पष्टतया उन गृह-विग्रहों का निर्देश करता है जिन्होंने उदयादित्यवर्मा के राज्य में संक्षोभ पैदा किया था।

शान्ति और पुनरुत्थान का युग—जान पड़ता है कि हर्षवर्मा तृतीय और उसके दो उत्तराधिकारियों ने आर्य-धर्म को अपनाया। यहाँ हम एक अति संक्षुब्ध राजत्व-काल से शान्ति और पुनरुत्थान के युग में प्रवेश करते हैं। किन्तु घरेलू झगड़ों के अभाव में कम्बोडिया निवासियों को चाम लोगों के आक्रमणों का सामना करना पड़ा। सन् १०७६ के लगभग राजकुमार श्रीनन्दनवर्मदेव के सेनापतित्व में एक खमेर-सेना चम्पा के राजा हरिवर्मा से परास्त की गई थी, जिसने विजय-लक्ष्मी का अनुसरण करने का काम अपने छोटे भाई, प्रधान जनरल राजकुमार पान को सौंपा। पान ने कम्बोडिया के मुल्क में प्रवेश करके शम्भुपुर (साम्बोर) के नगर पर अधिकार किया और वहाँ से बहुत से क़ैदी और लूट का माल ले गया।

जयवर्मा सप्तम।

एक नया राजवंश—जयवर्मा सप्तम एक नये राजवंश का स्थापक प्रतीत होता है; उसके उत्तराधिकारी उससे ही अपनी वंशपरम्परा का आरम्भ मानते हैं—उससे परे नहीं जाते। इस और अगले दो राजाओं के लिए बान थाट का संस्कृत शिलालेख और प्नौम सण्डक और प्रीह विहेअर के खमेर-संस्कृत शिलालेख ही हमारी प्रमाण-सामग्री हैं। अन्तिम दो शिलालेख, जिनमें बहुत सी बातें एक जैसी ही हैं, हमें बतलाते हैं कि जयवर्मा सप्तम का अभिषेक उसके नववयस्क गुरु, विश्रुत ब्राह्मण, दिवाकरपण्डित ने सम्पादन किया था। जयवर्मा ने, जो शिव का परम भक्त था, उसे भगवत्पाद कम्रटेंग अन्ह की सबसे ऊँची उपाधि प्रदान की। उसके और उसके पूर्वाधिकारी एवं उत्तराधिकारी के राजत्व-काल में ब्राह्म गुरु (दिवाकर) ने अनेक यज्ञ किये, तालाब खुदवाये, देवताओं, पण्डितों और तीर्थस्थानों को दास, हाथी आदि प्रदान किये।

बान थाट का शिलालेख—बान थाट के शिलालेख का आरम्भिक हिस्सा पढ़ने में नहीं आता। १६ वें और १७ वें श्लोकों में हम देखते हैं कि मङ्गलाचरण अभी समाप्त नहीं हुआ है—"अपनी ही शक्ति से प्रकृति को पैदा करके एकपुरुष,

जिसमें तीनों गुणों का सार विद्यमान है, हिरण्यगर्भ हरि हुआ है; अपने सामर्थ्य से वह अपरिवर्तनशील भी है। मैं उसकी वन्दना करता हूँ। द्वैतभाव को पैदा करने के लिए वह अपनी शक्ति से प्रकृति में विकास लाता है। इस इच्छा को पूरा कर लेने पर वह प्रकृति को अपने आप में ही विलीन कर लेता है। मैं प्रभु की वन्दना करता हूँ ...।" इसके बाद आख्यान का आरम्भ होता है और हमें बतलाया जाता है कि किस प्रकार प्रस्तुत सूक्त से प्रसन्न हो कर प्रभु मुसकराते हुए मुनि के सम्मुख उपस्थित होता है और उसे और उसके वंश को भद्रेश्वर पर्वत के लिङ्ग का ऐकान्तिक पैरोहित्य प्रदान करता है। अपने पुत्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने के लिए, इसके बाद हम सुनते हैं कि, कम्बुज देश का सम्राट् एक ऐसे होता की ढूँढ़ में है जिसके जीवन में पवित्रता हो, जो बड़ा विद्वान् और कुलीन हो। इस मुनि को लाने के लिए—यह जानकर कि वह विश्वास-पात्र और शिष्टाचार में अनुभवी है—उसने यात्रा के लिए भली भाँति सजे हुए एक जहाजी बेड़े को भेजा, जिस प्रकार प्राचीन समय में लोमपाद ने ऋष्यशृङ्ग को बुलवा भेजा था। अन्य द्वीपों से राजा लोग आये और राजमार्ग को अपूर्व ढँग से सजाया गया।

शिलालेख के दूसरे भाग में हमें बतलाया गया है कि इन्द्र आकर मुनि के तप की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करता है। वह कहता है—"त्रिलोक में इस पर्वत, इस शिवलिङ्ग, इस तीर्थ की पवित्र स्रोतोवाहिनी और आप जैसे बुद्धि-रत्न की अपेक्षा अधिक महनीय वस्तु क्या हो सकती है जिसे मनुष्य भक्ति-भाव

से प्राप्त करे।" तब इन्द्र ने मुनि को निमंत्रित किया कि वह अपनी उपस्थिति से स्वर्ग को पवित्र करे। परन्तु यद्यपि मुनि का हृदय इस बात को सुनकर आनन्द से परिप्लावित हो उठा, उसने इन्द्र के निमन्त्रण को सविनय अस्वीकार कर दिया और उससे प्रार्थना की—"आपके अनुग्रह से शिव के द्वारा अपनी परिचर्य्या में प्रतिष्ठापित मेरे वंशज अनन्त काल तक इस शैवांघ्रि पर्वत पर निवास करें।" इस अभ्यर्थना को अंगीकार करके इन्द्र ने वहाँ से प्रस्थान किया। मुनि ने शैव सिद्धान्त अन्य मुनियों को सिखाकर और अपने स्थान पर अपने भानजे को रख कर परम धाम को प्रयाण किया।

एक विदुषी ब्राह्मण महिला—उक्त शिलालेख के तीसरे भाग में कहा गया है कि प्रस्तुत मुनि के मातृवंश में सिल्हका नाम्नी एक महिला ने जन्म ग्रहण किया था। शैशव काल में भी जब वह धूलि में खेलती थी वह इसी प्रकार चमकती थी जैसे पृथिवी के ऊपर आकाश-मण्डल। युवावस्था में वह केवल अत्यन्त उत्कृष्ट सौन्दर्य और सदाचरण से ही युक्त नहीं थी किन्तु वृद्ध जनों, राजगुरुओं और अत्यधिक कृतविद्य लोगों से जनता के सम्मुख उसकी प्रतिष्ठा होती थी और वह देवी वागीश्वरी उद्घोषित की गई थी। शास्त्रार्थ में वह प्रमुख स्थान रखती थी और उसे रत्नों से अलंकृत किया जाता था। एक ऋषि की भविष्य वाणी से वह नमःशिवाय नामी एक भक्तिमान् शैव की पत्नी बनी। उनका पुत्र सुभद्र अथवा मूर्त्तशिव जयवर्मा सप्तम की राजसभा के पण्डित की

हैसियत से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि वह तीन वेद आदि सभी शास्त्रों में भली भाँति कृतविद्य था, उसने अपनी कुलपरम्परा का अनुसरण करते हुए विशेष कर शैव धर्म-ग्रन्थों के अवगाहन में अपना समय लगाया। दीक्षा उत्सवों में उसने कई बार विद्वानों को केवल सोम रस ही नहीं किन्तु न्याय, सांख्य, वैशेषिक, शब्दशास्त्र और भाष्य के अमृत को भी पिलाया। अधीतविद्य शिष्यों के दिए हुए उपहारों से भरे हुए अविच्छिन्न होम के धुएँ से सुरभित, उसके आश्रम में विद्यार्थी पारंगत विशेषज्ञों की भाँति शास्त्रों के जटिल स्थलों पर वाद विवाद करते थे। एक दिन, जब यज्ञ हो रहा था, जयवर्मा सप्तम ने विद्वानों की एक बैठक सम्मानित करने की इच्छा से धर्म-ग्रन्थों के विशेषज्ञों को योग्यतानुसार विद्यार्थियों की परीक्षा लेने को कहा। पुस्तकें खोल के सामने रख कर उन्होंने सुभद्र से प्रश्न किया। किन्तु जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से पर्वतों के पंखों को काटा था उसी प्रकार उसने भी अपनी कृतविद्यता के वज्र से उनके पक्ष का खण्डन कर डाला। अपने गुणों की पूर्णता से उसने अपनी युवावस्था से ही विद्वानों को अभिभूत कर डाला, जिस प्रकार जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य ने किया था। राजा ने उसे क्रम से धार्मिक संस्थाओं के निरीक्षक और उच्च श्रेणी के लोगों में धार्मिक और दिवानी मामलों में न्यायाधीश के पद प्रदान किये।

बाट फू—शायद लाओस में बासाक के निकट वह स्मारक, जो उस समय व्राह थकल नाम से प्रसिद्ध था और

जो वर्तमान काल में बाट फू कहलाता है, इसी राज्य से सम्बन्ध रखता है। भद्रेश्वर के मन्दिर के महान् निर्माण-कार्य की समस्या भी यहाँ पर उपस्थित होती है किन्तु अभाग्यवश निश्चयात्मकता से नहीं। कुछ स्पष्ट सा आभास होता है कि उसका आरम्भ इसी राजत्वकाल में हुआ था।

जयवर्मा सप्तम का पारमार्थिक नाम परमकैवल्यपाद था।

——:o:——

धरणीन्द्रवर्मा प्रथम।

प्री विहेअर का खमेर-संस्कृत शिलालेख हमें बतलाता है कि धरणीन्द्रवर्मा प्रथम का राज्याभिषेक व्राह गुरु दिवाकर पण्डित ने किया था। "यह सम्राट् अवस्था में बहुत कुछ बढ़ा हुआ था और उसने अपनी क्षमताओं से राज्य की सात प्रकृतियों (राजा, मन्त्री, दुर्ग, प्रजा, कोश, सेना और मित्रशक्तियों) को बहुत विकसित किया।"

वह अपने पूर्वाधिकारी का बड़ा भाई था और राज्य पाने से पूर्व ही अवस्था में बढ़ चला था वह राजा नहीं, राजर्षि था; वह स्वयं विनीत था उसकी पार्थिव कामनाएं उत्सर्पिणी नहीं थीं। यद्यपि उसकी इच्छा राजा बनने की नहीं थी, उसने अपने छोटे भाई जयवर्मा की मृत्यु के बाद प्रजा की प्रार्थनाएँ स्वीकार कीं और देश पर बुद्धिमत्ता और न्याय से शासन किया। अवस्था के परिपाक के साथ वह विशेषकर नागरिकों की सात रियासतों की हितकामना में अधिक लीन रहने लगा।"

उसका पारमार्थिक नाम परमनिष्कलपद था। वह शात संवत्सर ११०९ में राज्य करता था और १११२ तक राज्य करता रहा।

——:o:——

सूर्यवर्मा द्वितीय और अँगकोर वाट।

परमविष्णुलोक—सूर्यवर्मा द्वितीय का पारमार्थिक नाम निश्चयात्मकता से विदित नहीं। श्रीयुत पेमोनिए के अनुमान के अनुसार उसका स्वर्गीय नाम परमविष्णुलोक रहा होगा। उसने सन् १११२ के आरम्भ से लगभग ११५२ तक राज्य किया। उसके राजत्व-काल के ज्ञात संवत्सर १११४, ११३८ और ११४५ हैं।

सूर्यवर्मा ने वह राज नाम ग्रहण किया जिसे एक शताब्दी पहले एक और राजा ग्रहण कर चुका था जिसका शासन-काल दीर्घ और संभवतः कीर्ति और महत्ता से निर्भर था। एक ख्मेर वाक्सन्दर्भ के अनुसार वह अपने आप को मातृवंश में पूर्व दो राजाओं का नाती बतलाता है। किन्तु जैसा एक संस्कृत शिलालेख से विदित होता है यह सम्बन्ध सीधा नहीं था—"वह पिछले दो राजाओं—जयवर्मा और धरणीन्द्रवर्मा की भतीजी श्रीनरेन्द्रलक्ष्मी का पुत्र था......उसका एक दुर्धर्ष शत्रु था, जिस प्रकार सिंह के लिए हाथी है"

बलपूर्वक राज्यग्रहण—कार्त्तिकेय की समता रखने वाले, "पिछले दो राज्यों की महनीयता के भयंकर स्पर्द्धी" इस वीर ने अपने प्रतिस्पर्द्धियों को मारकर बलपूर्वक सिंहासन पर

अधिकार किया। "अपना अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद प्रौढ़ावस्था को पहुँचते न पहुँचते, वह अपने कुल के राजकीय गौरव का इच्छुक हुआ और, चूँकि वह दो राजन्यकुमारों में विभक्त हो रहा था, उसने एक महती सेना लेकर युद्ध छेड़ दिया, एक भयंकर लड़ाई लड़ी और राजकीय हाथी के सिर पर कूद कर शत्रु राजा को मार डाला। उसने विपत्सागर में डूबे हुए साम्राज्य को नियमित स्थिति में रक्खा।"

सूर्यवर्मा के धर्मानुष्ठान—सूर्यमवर्ा द्वितीय का राज्याभिषेक राजगुरु दिवाकर ने किया था। जो पिछले दो राजाओं को भी अभिषिक्त कर चुका था और जिसने नववयस्क राजा को उच्चतम गौरव के अनेकों विधानों और कर्तव्यों की दीक्षा दी थी। अतः सूर्यवर्मा ने विज्ञानों और धार्मिक रहस्यों का अनुशीलन किया, धार्मिक उत्सवों का संगठन किया और सहस्रों ऋषि-यज्ञ, देव-यज्ञ और पितृ-यज्ञ किये। उसने देवताओं, विशेषकर भद्रेश्वर शिव के निमित्त अनेकों वदान्यता के कार्य किये, उपहार और प्रतिग्रह दिये। उसने अपने गुरु और अन्य कर्मचारी ब्राह्मणों को उचित दक्षिणाएँ दीं; चारों ओर पालकियाँ, गाड़ियाँ, रत्नजटित आभरण, कुण्डल, कँगन, नूपुर, भूमि, पशु, दास, दासियाँ आदि वितरण किये।

सूर्यवर्मा के शिलालेख—सूर्यवर्मा स्वयं पण्डित था उसके संस्कृत-खमेर शिलालेखों में जो संस्कृत के श्लोक हैं उसीके बनाये हुए बतलाये जाते हैं।

शिलालेखन की लिपि, जो नवीं शताब्दी में इन्द्रवर्मा

प्रथम के राजत्वकाल से गोलाकार रही है। इस राज्य में परिवर्तित हो जाती है। वह चतुरस्र रूप धारण कर लेती है जिसके कोण मुश्किल से ही गोलाकार हैं। उसमें उसके अलंकरणावर्तनों को सुरक्षित रखा गया है।

इस प्रकार के शिलालेख राज्य के उत्तरी भाग में, मून नदी और दानग्रेक पर्वत की परिस्थिति में, अनेकों हैं। वे साधारणतया बौद्ध प्रतीत होते हैं। उनका सम्पादन अभी तक नहीं हुआ है। उस समय बौद्ध धर्म समृद्ध अवस्था में था; तौ भी आर्यधर्म ही प्रधान स्थान अधिष्ठित किये हुए जान पड़ता है।

११२६ के लगभग सूर्यवर्मा ने बासाक के निकट वाट फू के मन्दिर के शैव प्रतिष्ठापनों को किया था। यह मन्दिर शायद ग्रामीण भाषा में व्राह थक्कल और संस्कृत में लिङ्गपर्वत कहलाता था।

१११६ से राजा ने परिखाओं और तड़ागों को खुदवाने और भद्रेश्वर शिव के बुर्जों को बनवाने के लिए अनेकों शिल्पी और कर्मकार बेगार में लिये।

चीन के साथ राजनैतिक सम्बन्ध—चीन के साथ उस राजनैतिक सम्बन्ध को थोड़ा बहुत नियमित रूप से पुनर्जीवित करने वाला सूर्यवर्मा द्वितीय ही था जिसे सातवीं शताब्दी के ईशानवर्मा ने विच्छिन्न कर डाला था। ११०७ और ११२० में राजदूत भेजे गये थे। ११२८ में बदले में चीन के सम्राट् ने चेन-ला (कम्बोडिया) के राजा को उच्च सन्मान

प्रदान किये। फिर ११३१ और ११४७ के बीच वाणिज्य-विषयक कठिनाइयों का विवेचन किया गया और उन्हें नियम के अन्दर लाया गया।

चम्पा पर आक्रमण—चम्पा के साथ सूर्यवर्मा द्वितीय का सम्बन्ध कम शान्तिमय था। ११२८, ११३२, ११३५, ११३७ और ११४५ में उसने अपनी सेनाओं से चम्पा के राज्य पर आक्रमण किया और उसे लूटता पाटता चला गया। चाम राजा ने इन महान् पराजयों के सामने सिर नवाया और इन्हीं युद्धों में मरकर अथवा क़ैदी बन कर विलुप्त हो गया। किन्तु समुज्ज्वल सफलताओं के बाद कम्बोडिया-निवासी पाण्डरङ्ग के मैदान में अपने ही दुर्ग में चम्पा के नये राजा जयहरिवर्मा से परास्त किये जाते हैं। कम्बोडिया का सम्राट् एक महान् अभिनव सैन्यदल को भेजता है और अपनी पट-रानी के छोटे भाई राजकुमार हरिदेव को चम्पा का राजा बनाना उपयोगी समझता है। हरिदेव और उसके सहयोगी चाम और ख्मेर ११४९ अथवा ११५० के लगभग चम्पा से पराजय के साथ निकाल बाहर किये जाते हैं।

तब सूर्यवर्मा ने, जो अवस्था में बढ़ चला था—यदि वह अभी तक जीवित रहा हो तो—निस्सन्देह इस पक्ष को छोड़ दिया होगा। हम नहीं जानते कि उसकी मृत्यु कब हुई।

अन्तिम निर्मातृ राजे—मालूम होता है सूर्यवर्मा द्वितीय कम्बोडिया के निर्मातृ-राजाओं में सब से अन्तिम था। उसके राज्य के बाद के स्मारक कम महत्त्व के हैं। अब से

शिलालेख भी दुर्लभ होते जावेंगे और ११८६ के एक शिलालेख को छोड़ कर उनका ऐतिहासिक महत्त्व प्रायः कुछ भी नहीं है।

अँगकोर वाट का निर्माण—अतएव कम्बोडिया के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मन्दिर-जो इस समय अँगकोरवाट नाम से विश्रुत है—के निर्माण अथवा कम से कम उसे पूर्ण करने का श्रेय सूर्यवर्मा द्वितीय को है। इस कथन की पुष्टि में प्रमाण आगे दिये जावेंगे। यहाँ पर केवल यह कह कर विश्रान्ति की जाती है कि कितने आश्चर्य की बात है कि उस समय का एक भी शिलालेख स्पष्टता और निश्चयात्मकता से इस विशाल निर्माण का उल्लेख नहीं करता।

——:o:——

अँगकोर वाट ।

अँगकोर वाट का निर्माता—अब हम कम्बोडिया की महती प्रहेलिका का सामना करते हैं । अँगकोर वाट को किसने बनाया और उसमें किस देवता का प्रतिष्ठापन किया गया था ? प्रमाण-सामग्री से प्रतीत होता है कि इस महनीय निर्माण के निर्माता सूर्यवर्मा द्वितीय और उसका गुरु दिवाकर पण्डित थे । और बहुत सम्भव है कि वह विष्णु-मन्दिर था, यद्यपि अब वह हीनयान बौद्ध मन्दिर बन गया है ।

दरबार के दृश्यों, स्वर्ग और नरक का चित्रण करनेवाली दो निम्न प्रतिच्छायाओं पर जो संक्षिप्त ख्मेर शिलालेख मिले हैं वे उन चतुरस्र अक्षरों में लिखे हुए हैं, जो सूर्यवर्मा द्वितीय और उसके उत्तराधिकारी जयवर्मा अष्टम के शिलालेखों की विशेषता हैं । ये शिलालेख दरबार के दृश्यों में अङ्कित सम्राट् का नाम परम विष्णुलोक बतलाते हैं । हमें दो राजाओं उदयादित्यवर्मा द्वितीय और सूर्यवर्मा द्वितीय के पारमार्थिक नाम ज्ञात नहीं हैं । शिलालेखों के वर्गाकार अक्षर, उदयादित्यवर्मा द्वितीय का संक्षिप्त और संक्षुब्ध राज्य, सूर्यवर्मा के अन्य शिलालेखों (फनौम सण्डक, प्रीह विहेअर और वाट फू के शिलालेखों) में विष्णु का बार बार निर्देश और उनमें उल्लिखित महती निर्माण-कर्मण्यता, ये सभी इस बात को प्रायः निश्चयात्मकता

का रूप दे देते हैं कि परमविष्णुलोक सूर्यवर्मा द्वितीय का पारमार्थिक नाम था । दरबारी दृश्यों में प्रधान महापुरुषों के नाम भी उन्हीं वर्गाकार अक्षरों में लिखे हुए हैं और कतिपय उपाधियों का तादात्म्य सूर्यवर्मा द्वितीय के अन्य शिलालेखों में दी हुई उपाधियों से किया जा सकता है । सूर्यवर्मा द्वितीय के बाद कम्बोडिया के सिंहासन को अधिष्ठित करनेवाला एकमात्र महान् सम्राट् उत्कट महायान बौद्ध था और अँगकोर वाट में महायान बौद्ध धर्म का कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त वह युद्ध में इतना व्यापृत था कि उसे इस भीमकाय निर्माण के लिए अवकाश मिल ही नहीं सकता था ; यही नहीं, हाल ही में यह भी पता लगाया गया है कि उसका पारमार्थिक नाम महापरमसौगत था । अँगकोर वाट के निर्माण का श्रेय काल्पनिक राजा प्राह केट मीली को देनेवाली और हीनयान बौद्ध सन्त और विद्वान् बुद्धघोष के लंका से आने के अवसर पर उसका समर्पण बुद्ध को बतलानेवाली गल्प पीछे से बनाई गई थी जब कम्बोडिया हीनयान का अनुयायी हो चला था। अँगकोर वाट की वास्तुकला की सरणी और उसकी अलंक्रिया अँगकोर थाम की अपेक्षा निश्चय से कहीं पीछे की है । अतः अँगकोर वाट के निर्माण का श्रेय जयवर्मा चतुर्थ को देना नितान्त असंगत है, जिसका पारमार्थिक नाम विष्णुलोक था और जिसने ८६९ से ८७७ तक राज्य किया। यह भी विचारणीय बात है कि ऐसे विशाल भवन का एक ही राजत्वकाल में बनना सम्भव नहीं था । हो सकता है कि संसार के इस अत्यन्त विस्मयावह मन्दिर के निर्माता बनने का श्रेय कम्बोडिया

के अन्तिम महान् ब्राह्मण दिवाकर पण्डित को था जो लगातार तीन राजाओं—जयवर्मा सप्तम, धरणीन्द्रवर्मा प्रथम और सूर्यवर्मा द्वितीय—का गुरु रह चुका था। शिलालेख इन तीन राज्यों में उसकी अनवरत निर्माण-कर्मण्यता, उसके राजोपम पद और वैष्णव सम्प्रदाय की ओर उसकी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते हैं।

अँगकोर वाट का दिग्दर्शन—अँगकोर वाट अथवा नोकोर वाट—नगर-मन्दिर का मुख अन्य मन्दिरों की भाँति पूर्व की ओर नहीं किन्तु पश्चिम में उस मार्ग की ओर है जो अँगकोर थाम के पूर्वी फाटक को जाता है और नगर से वह लगभग एक मील की दूरी पर है। नगर के अन्दर परिच्छिन्न न होने से यहाँ सब कुछ महान् परिमाण में है। चारों ओर से उसे घेरनेवाली परिखा को यदि एक झील ही कहें तो अत्युक्ति न होगी; उसकी चौड़ाई लगभग ७०० फ़ीट है। इस परिखा को पार करनेवाला, सप्तशिरस्क नागों की स्तम्भ-पंक्ति पर स्थित सेतुबन्ध ३६ फीट चौड़ा है। इसके बाद हम मन्दिर को परिवृत करनेवाली महती आयताकार पाषाण-दीवार पर पहुँचते हैं जो पूर्व-पश्चिम को लगभग एक मील का दो तिहाई और उत्तरदक्षिण को आध मील है। पश्चिम पार्श्व में प्रधान प्रवेश-मार्ग का मुख्य भाग एक फरलांग से अधिक लंबा है और उसमें तीन फाटक हैं जिनके ऊपर प्रभावोत्पादक अट्टालिकाएं बनी हुई हैं। द्वार की देहली से तीन प्राघाणों में उठते हुए इस महत्तापूर्ण मन्दिर का दृश्य अत्यन्त उत्कृष्ट है। परिखा को

पार करनेवाला सेतुबन्ध परिधि के फाटक से मन्दिर के अन्दरूनी प्रकोष्ठ तक चला गया है। यह सेतुबन्ध ज़मीन से १० फ़ीट ऊपर और गोल स्तम्भों की पंक्ति पर स्थित है; उसके फर्श पर दीर्घ पाषाणपटल बिछे हुए हैं और किनारों पर नाग विद्यमान हैं। दोनों ओर खजूरों का बाग़ है। सेतुबन्ध के प्रत्येक पार्श्व में एक लाइब्रेरी है। फिर पाषाण-सिंहों से सुरक्षित सोपान-परम्परा से हम एक विस्तीर्ण क्रूशाकार प्राघाण पर पहुँचते हैं। इसके बाद प्रकोष्ठ मिलता है, जिसमें चतुरस्र-तया विन्यस्त आगारों का समुदाय संमिलित है जिनके दोनों पार्श्वों में निम्न प्रतिच्छयाओं से अलंकृत एक दीर्घ गैलरी है; यह गैलरी मन्दिर को परिवृत करनेवाले एक आयत का रूप धारण करती है। प्रथम गैलरी और दूसरी उच्छ्रित गैलरी के मध्य की शृङ्खला एक वर्गाकार गैलरी है जिसकी दोनों ओर चार गहरे जलाशय चतुरस्रतया विन्यस्त हैं। एक सोपानपंक्ति हमें दूसरी गैलरी को ले जाती है जो पहली से एक शाद्वला से पृथक् होती है। इसके बाद एक और उत्सर्पिणी सोपान-परम्परा हमें तीसरी और अन्तिम गैलरी को ले जाती है जिसके चारों कोनों पर, ज़मीन से प्रत्येक १८० फ़ीट ऊँचा, चार बुर्ज विद्यमान हैं। तीसरी गैलरी से बने हुए आयत के अन्दर दो अन्दरूनी गैलरियों के मिलने के स्थान पर पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण को फैला हुआ एक मन्दिर है जिसके ऊपर ज़मीन की सतह से २१३ फ़ीट की ऊँचाई पर, केन्द्रस्थ बुर्ज मुकुट रूप से विराजमान है। उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति कभी की अदृश्य हो चुकी है।

मन्दिर की सजावट—यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रथम प्राघाण ज़मीन की सतह से ११ फ़ीट ऊँचा है, दूसरा प्राघाण पहले के ऊपर लगभग २२ फ़ीट और तीसरा दूसरे के ऊपर क़रीब ४४ फीट ऊँचा है। तीसरी गैलरी से हम दूसरी और पहली गैलरियों की छतों पर देख सकते हैं जो खपरैलों से ढकी हुई हैं और सुन्दर वक्र छज्जों से अलंकृत हैं। अँगकोर वाट की सजावट का काम उसके बृहत् परिमाण के अनुरूप है। दीवारों पर स्वर्गीय परियाँ, फूल, ज़री का काम जैसे अलंकृत करनेवाले आलेख्य तक्षण किये गये हैं। किन्तु यह सजावट का काम कलानुसारी होने पर भी बेयोन की अलंक्रिया की अपेक्षा अवर है।

प्रथम गैलरी की प्रतिच्छायाएँ—प्रथम गैलरी की निम्न प्रतिच्छायाएँ विशेष विचारणीय हैं। प्रथम आयत का दक्षिण पार्श्व कम्बोडिया के दरबार के दृश्यों को विशद करता है और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पहला दृश्य मुकुट पहने हुई रानियों और राजकुमारियों को प्रदर्शित करता है जिनमें से कुछ पालकियों में और कुछ रथों पर एक उद्यान से होकर जा रही हैं। नौकरानियाँ राज-महिलाओं को धूप से बचाने के लिए छातों को थामे हुई हैं, उन पर बड़े बड़े पंखे झल रही हैं और उन्हें देने के लिए पेड़ों से फल तोड़ रही हैं।

राजा के अंगरक्षक—दूसरा दृश्य हमें पर्वत-पार्श्व में ले जाता है और हम राजा के अंगरक्षकों को देखते हैं जिनमें धनुर्धारी और भालेवाले सम्मिलित हैं। उनके सामने

अँगकोर वाट का एक पिरामिड ।

मन्दिर की सजावट—यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रथम प्राघाण ज़मीन की सतह से ११ फ़ीट ऊँचा है, दूसरा प्राघाण पहले के ऊपर लगभग २२ फ़ीट और तीसरा दूसरे के ऊपर क़रीब ४४ फीट ऊँचा है। तीसरी गैलरी से हम दूसरी और पहली गैलरियों की छतों पर देख सकते हैं जो खपरैलों से ढकी हुई हैं और सुन्दर वक्र छज्जों से अलंकृत हैं। अँगकोर वाट की सजावट का काम उसके बृहत् परिमाण के अनुरूप है। दीवारों पर स्वर्गीय परियाँ, फूल, ज़री का काम जैसे अलंकृत करनेवाले आलेख्य तत्तण किये गये हैं। किन्तु यह सजावट का काम कलानुसारी होने पर भी बेयोन की अलंक्रिया की अपेक्षा अवर है।

प्रथम गैलरी की प्रतिच्छायाएँ—प्रथम गैलरी की निम्न प्रतिच्छायाएँ विशेष विचारणीय हैं। प्रथम आयत का दक्षिण पार्श्व कम्बोडिया के दरबार के दृश्यों को विशद करता है और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पहला दृश्य मुकुट पहने हुई रानियां और राजकुमारियों को प्रदर्शित करता है जिनमें से कुछ पालकियों में और कुछ रथों पर एक उद्यान से होकर जा रही हैं। नौकरानियाँ राज-महिलाओं को धूप से बचाने के लिए छातों को थामे हुई हैं, उन पर बड़े बड़े पंखे झल रही हैं और उन्हें देने के लिए पेड़ों से फल तोड़ रही हैं।

राजा के अंगरक्षक—दूसरा दृश्य हमें पर्वत-पार्श्व में ले जाता है और हम राजा के अंगरक्षकों को देखते हैं जिनमें धनुर्धारी और भालेवाले सम्मिलित हैं। उनके सामने

लम्बे वाल रखे और कुण्डल पहने हुए सगर्व बैठे हुए ब्राह्मण हैं। किन्तु इनमें से तीन खड़े हैं और केन्द्रस्थ व्यक्ति अन्य दो को फलों से भरे हुए थालों को सामने लाने की आज्ञा दे रहा है। एक संक्षिप्त ख्मेर शिलालेख हमें बतलाता है कि यह पण्डितों के द्वारा राजा को उपहार देने का प्रदर्शन है। एक और शिलालेख हमें बतलाता है "महाराज व्राह पाद परम-विष्णुलोक शिवपाद पर्वत पर सेनाओं को एकत्र किये जाने की आज्ञा दे रहा है।" राजा अपने सिर पर एक सुन्दर तक्षण किये हुए मुकुट को धारण किये हुए है और उसके कानों से भारी आभूषण लटक रहे हैं। उसके वक्षःस्थल को एक माला अलंकृत किये हुई है जो अंशतः तिरछे पहने हुए एक दुपट्टे से ढकी हुई है। प्रत्येक बाहु में दो कँगन हैं, एक कोहनी के ऊपर और दूसरा मणि-बन्ध पर। एक आढ्यता से सजी हुई कटि-मेखला से एक खंजर लटक रहा है। अपने हाथ में वह छिप-कली की आकृति की एक विचित्र वस्तु लिये हुए है। सिंहा-सनासीन राजा की अवस्थिति चारुतापूर्ण है और वह प्रताप-शाली दिखाई देता है। निःसन्देह यह सारी निम्न प्रतिकृति-याओं में सबसे उत्तम है। उसके सिरके ऊपर चौदह छत्र थामे हुए हैं। चार चँवर और पांच बृहदाकार पंखे भी यहाँ देखे जा सकते हैं। इसके बाद हम मन्त्रियों को देखते हैं—एक शिला-लेख हमें बतलाता है कि इनमें से पहला "पवित्र प्रभु और अधीश्वर वीरसिंहवर्मा" है जो घुटने के बल झुक कर राजा को एक 'रोल' दे रहा है। उसके बाद "प्रभु और अधीश्वर, प्रधान सचिव श्री वर्द्धन" है। फिर "प्रभु और अधीश्वर," धन-

अय दिखाई देता है। उसके बाद 'गुण-दोषों का प्रभु और अधीश्वर" है। अतः यह चौथा सचिव है जो प्रधान न्यायाधीश है। खमेर कैबिनेट में चार मंत्री होते थे और अब भी चार ही होते हैं। मंत्रियों के कुण्डल नहीं हैं और प्रत्येक का वक्षः-स्थल खुला हुआ है। वे अपने दाहिने हाथ को छाती पर रखे रहते थे। उनके पीछे कवच और शिरस्त्राण पहने हुए सेना-ध्यक्ष हैं।

सेनाध्यक्ष—अगला दृश्य हमें अंगरक्षक-वर्ग सहित सेनाध्यक्षों का प्रयाण दर्शाता ह। (१) व्राह कामरतन आँ श्री जयेन्द्रवर्मा लदो। यह जनरल कवच पहने अपने हाथी पर खड़ा है, उसका बाँया पैर हौदे पर और दाहिना पैर हाथी के पिछाड़े पर स्थित है। उसके कँधे पर एक भाला है और उसके बाँये हाथ पर एक ढाल । दस छत्र उसके पद को उद्घोषित करते हैं । उसका रक्षितृ-वर्ग शिरस्त्राण पहने हुए है, जिनके सिरों पर नाग और अन्य असंगत चित्र अंकित हैं। उसके आगे चार अश्वारोही प्रयाण कर रहे हैं। (२) व्राह कामरतन आँ श्री वीरेन्द्राधिपति वर्मा चोकवकुल—इस महापुरुष का तादात्म्य ११०८ में फिमाइ मन्दिर को बनवाने वाले व्यक्ति से किया गया है। वह भी अपने हाथी पर खड़ा है उसके हाथ में एक प्रकार का परशु है, उसके बाँये कंधे के पीछे दो खञ्जर लटक रहे हैं। (३) इसके पश्चात् दो संजक (राजपुरुष जिन्होंने राजा को अपने जीवन अर्पण कर दिये हैं) आते हैं—वीरयुद्धवर्मा धनुष बाण लिये हुए है और जययुद्धवर्मा के पास एक प्रकार का परशु है । पहले का झंडा एक लम्बी मुट्ठ पर गड़ी हुई गरुड़
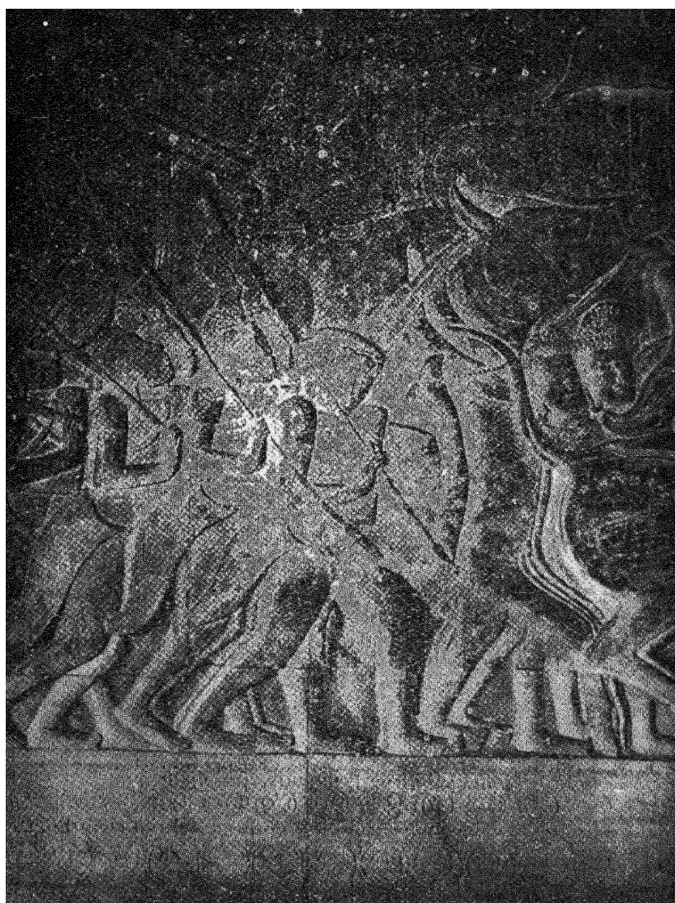
खमेर सेना का युद्ध के लिए प्रस्थान।

की प्रतिमा है और दूसरे का हनुमान की प्रतिकृति। (४) इसके बाद महीपतीन्द्रवर्मा चनलक्ष्ड आता है। (५) फिर पांच सञ्जकों के बाद प्रभु धनञ्जय है—यह वही सचिव है जिसे हम राज-दरबार के दृश्य में देख चुके हैं। इसके बाद व्राह पाद कामरतन औँ परमविष्णुलोक स्वयं राजा है जिसके पीछे प्रधान मन्त्री श्री-वर्द्धन है। तगड़ी के अतिरिक्त, जो धोती के ऊपर बंधी हुई है और जिसके दोनों किनारे अन्तरिक्ष में लटक रहे हैं, इन तीन उत्कृष्ट व्यक्तियों के एक और कटिबन्ध केवल अलंकरण के लिए है जिसके किनारे शिथिल लटक रहे हैं। राजा भी अपने हाथी पर खड़ा है। उसके कंधे से दो खंजर लटक रहे हैं, एक खंजर उसके कटिबन्ध में है और एक और उसके वक्षःस्थल के मध्य में जहाँ तलवारों की पेटियां एक दूसरे को पार करती हैं—यह कवच से सुरक्षित है। उसके दाहिने हाथ में एक प्रकार का परशु है। राजकीय हाथी के सिर पर भी एक बृहदाकार मुकुट है। उसके आगे आगे जो झंडा ले जाया जाता है वह गरुड़ पर आरूढ़ विष्णु की मूर्ति को प्रदर्शित करता है। (६) दो संजकों के बाद राज-होता दिखाई देता है जो पालकी पर ले जाया जा रहा है। वह और उसके साथ चलनेवाले अन्य ब्राह्मण केवल एक कौपीन और तलवार रखने के लिए एक दोहरी पेटी धारण किए हुए हैं। राजा की भाँति वे भी कानों में कुण्डल पहनते हैं, जब कि योधाओं के कोई कर्णभूषण नहीं हैं—यद्यपि उन्हें पहनने के लिए उनके कर्णपुट छिदे हुए हैं। सम्भवतः इसका अभिप्राय यह है कि यह एक धार्मिक जलूस था जिसमें केवल राजा और ब्राह्मण ही कुण्डल पहन सकते थे। कुछ ब्राह्मणों के

बाद, जो घंटियाँ बजा रहे हैं, कुछ आदमियों से जिनके बाल एक जैसे बारीक कटे हुए हैं एक नौका में पवित्र अग्नि (व्राह ब्लेन) ले जाई जा रही है। तुरहियाँ और शंख बजाए जा रहे हैं। दो बड़े हथोड़ों से एक झांझ पीटा जा रहा है। दो मसखरे हास्यास्पद ढंग से नाच रहे हैं। झंडे लेजानेवाले अपने झंडों से खेलते हुए प्रतीत होते हैं। (७) फिर दृश्य बदलता हुआ मालूम होता है। कुछ संजकों के बाद हम जयसिंहवर्मा को जंगलों में लवो (सियाम लोपबुरी) की सेनाओं का सञ्चालन करते हुए पाते हैं। (८) अगला व्यक्ति नेह स्याम कुक नाम से कहा गया है, सम्भवतः यह कोई सियामी सरदार है। उसकी आकृति विलक्षण और रूक्ष है और उसके साथ उनके अनुयायी हैं। उनके केश कई बन्धों में विन्यस्त हैं और फूलमालाओं से अलंकृत हैं। सरदार के कटिबन्ध से भारी आंचल के ऊपर आभरण लटक रहे हैं। उसके अनुयायियों के कपोल चित्राङ्कित हैं और वे जंगली जैसे दिखाई देते हैं। (९) इस परम्परा का अन्तिम व्यक्ति राजा का प्रतिनिधि पमन जेन झल है जो स्याम कुक (सैन्य ?) का संचालन कर रहा है। सम्भवतःअन्तिम चार दृश्य विदेशी सैन्य-दलों को प्रदर्शित करते हैं जो निरीक्षण के बाद घर लौट रहे हैं।

नरक के दृश्य—यम के अन्तिम न्याय-निर्णय की एक नई परम्परा आरम्भ होती है जिसमें चित्रगुप्त सहायता दे रहा है। यहाँ स्वर्ग और नरक के दृश्य दिखाये गये हैं जिन पर संक्षिप्त ख्मेर शिलालेख सावधानतया टीका टिप्पणि करते

हैं। यहाँ पर थोड़े से उदाहरण पर्याप्त होंगे। (१) कृमिनिचय अथवा कीड़ों का नरक; जो देवताओं, पवित्र अग्नि, गुरुजनों, ब्राह्मणों, विद्वानों, धर्माचार्यों, शिवभक्तों, माता पिता और मित्रों की अवमानना करते हैं, उनके लिए यह नरक है। (२) कूट-शाल्मली (कंटीले वृक्ष से लटकाना) ; उन लोगों को जो झूठी गवाही देते हैं। (३) अस्थिभङ्ग (हड्डियाँ तोड़ना) उन लोगों को, जो उद्यानों, मकानों, तड़ागों, कुंओं, तीर्थों आदि को क्षति पहुँचाते हैं। (४) क्रकच्छेद (आरे से चीरना); उदरंभरि लोगों को। (५) कुम्भीपाक (कड़ाहों का नरक) ; उनके लिए जो राजा से विश्वासघात करते हैं और जो गुरुओं, ग़रीबों और कृतविद्य ब्राह्मणों का धन चुराते हैं। (६) रौरव (जलते हुए कोयलों का कड़ाह) ; उनके लिए जो अपना ऋण नहीं चुकाते। इसी प्रकार ३२ पृथक् पृथक् नरकों को अङ्कित किया गया है।

स्वर्ग के दृश्य—स्वर्ग के ३७ दृश्य दिखाये गये हैं। यह एक विचित्र बात है कि जब नरक के दृश्य बड़ी सजीवता से अङ्कित किये गये हैं, स्वर्ग के दृश्य बिल्कुल निर्जीव, शालीन और एक जैसे हैं। हम स्वर्ग के सुखी निवासियों को देखते हैं जो आकाश-यानों में राजाओं की भाँति वस्त्र धारण किये हुए हैं और जिन्हें उनका परिचारक-वर्ग फल फूल, शिशु और दर्पण दे रहा है।

भारतीय साहित्य के दृश्य—अब विशद करने वाली खमेर गल्पें समाप्त होती हैं और हम उन प्रतिच्छायाओं

के निकट पहुँचते हैं जो रामायण, महाभारत और हरिवंश के दृश्यों को प्रदर्शित करती हैं। इन प्रतिच्छायाओं में विष्णु को प्रमुख स्थान दिया गया है। इस प्रकार आरम्भ में हम कुरुक्षेत्र की समरस्थली को पाते हैं जहाँ लड़ते हुए योधाओं की अगली पंक्ति में कृष्ण और अर्जुन विद्यमान हैं। इसके बाद रामायण की ग्यारह आनुषंगिक घटनाएँ उपस्थित होती हैं। फिर कृष्ण के पांच विक्रम सामने आते हैं। तदनन्तर चार दृश्य ऐसे आते हैं जिनमें कृष्ण केन्द्रस्थ व्यक्ति है। चार और दृश्य आते हैं जिनके तादात्म्य का पता नहीं लगाया जा सकता किन्तु जिनमें विष्णु की उपस्थिति को दृष्टिगत किया जा सकता है। अन्ततः तीन दृश्य शिवोपाख्यान के मिलते हैं, जिनमें से एक रामायण से लिया गया है। वैष्णव दृश्यों का यह प्राधान्य और साथ ही राजा का—जो "ऐतिहासिक गैलरी" में केन्द्रस्थ व्यक्ति है—'परमविष्णुलोक' यह पारमार्थिक नाम इस परिणाम की ओर ले जाते हैं कि अँगकोर वाट आरम्भ में विष्णु-मन्दिर था।

प्रम्बानन की प्रतिच्छायाओं से तुलना—राम-प्रतिच्छायाओं में विराध राक्षस की मृत्यु, राम का मारीच के पीछे दौड़ना, सुग्रीव के साथ राम की मैत्री, सुग्रीव और बालि का मल्लयुद्ध, हनुमान् का लंका में सीता का पता लगाना, लंका का रण-क्षेत्र, इत्यादि और अन्ततः राम का पुष्पक-विमान में वापिस होना उल्लेखनीय हैं। पहले छः दृश्य मध्य जावा में नवीं शताब्दी के प्रम्बानन मन्दिर की राम-प्रतिच्छायाओं में भी

विष्णु का वाहन, नागशत्रु गरुड़ ।

पाये जाते हैं। प्रम्बानन-प्रतिच्छायाएँ कला की दृष्टि से निःसन्देह बढ़ कर हैं, यद्यपि वे वाल्मीकि की रामायण का पूरा पूरा अनुसरण नहीं करतीं। भिन्नता की दूसरी बात यह है कि अँगकोर वाट में प्रतिच्छाया अति निम्न है। इसके अतिरिक्त अंगकोर का त्वष्टा प्रकृति की भाँति शून्यता से घृणा करता है। यदि कहीं थोड़ा सा भी रिक्त स्थान हुआ तो वह वहाँ किसी एक पक्षी या पौधे का प्रवेश करा देगा। इससे प्रभाव में कुछ क्षीणता आ जाती है। जावा का कलाविद् इस बात को जानता था; उसने अपने आलेख्यों को आप्लावित नहीं होने दिया। जावा का त्वष्टा कम्बोडिया के त्वष्टा से कहीं बढ़ कर था; जिस प्रकार कम्बोडिया का वास्तुकलाविद् जावा के वास्तुकलाविद् से बढ़कर था। जावा के मन्दिर, जिनमें बोरुबुदुर भी संमिलित है, कम्बोडिया के देवालयों की समता नहीं कर सकते।

कला के क्षेत्र में अँगकोर वाट का स्थान—यह है संक्षेप से अंगकोर वाट के महत्तायुक्त स्मारक का दिग्दर्शन।

परिधियों के अन्दर स्थान की विस्तीर्णता, गैलरियों के विकास की महत्ता, प्रपञ्च की पूर्णता, मन्दिर की आयोजना की सारी ही सुन्दरताएँ यहाँ सुचारु और ठोस पिरामिड-निचय के सर्वथा अनुरूप हैं, जिसके अवस्थानों का अनुपात सराहनीय है। उसके अशेष गुम्बद अन्तरिक्ष में एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं।

चाहे उसे कहीं से देखें, अँगकोर वाट का मन्दिर मानसपटल पर एक गहरा प्रभाव छोडता है। वह दूर ही से समष्टि

रूप से दृष्टि पथ पर अवतरता है। जब पथिक विशाल पश्चिमी सेतुबन्ध की ओर अरण्य से बाहर निकलता है तो वह मुग्ध होकर अपने आपको भूल जाता है मानो उस पर किसी ने जादू कर दिया हो। विशाल और गहरे जलाशयों से परे, जो पत्थर के पुल से पार किये जाते थे, सारा क्षितिज सुदीर्घ गैलरियों, स्तम्भ-पंक्तियों और प्रकोष्ठों से घिरा हुआ प्रतीत होता है। और अधिक दूर पर, कुछ और अधिक ऊँचाई पर, चेतोहारी निसर्गाभास में पत्थर की अन्य छतों की परम्परा दिखाई देती है जिनके ऊपर अन्तिम पांच उच्छ्रित बुर्जों का स्थूल बृहदाकार मध्यस्थ पादपीठ मुकुट रूप से विराजमान है। अपनी शाश्वतिक नीरवता में ये बुर्ज ऊष्माप्रधान प्रदेश के सूर्य को प्रतिबिम्बित करते हैं और उनके शिरोभाग भगवान् भास्कर की चमक से उद्दीप्त आकाशमण्डल की नीलिमा को चूमते हुए प्रतीत होते हैं।

मन्दिर की सजावट उसकी महनीय समष्टि के अनुरूप थी। सर्वत्र सीढ़ियों के सिरों पर बृहत्काय सिंह और वीथिकाओं के पार्श्वों में बहुशिरस्क सर्प स्थित थे। गैलरियों की छतें खपरैलों के रूप में भङ्गुराकृति धारण किये हुई थीं। सर्वत्र दीवारों की सजावट में आढ्यता थी; तक्षणों में लालित्य था। दीवारों पर उनके कोनों में स्वर्गीय अप्सराएं—उनके विकृत पैरों को यदि ध्यान में न लावें—अपने वक्षःस्थल की चेतोहारिणी पीनता और रत्नों और आभरणों की प्रचुरता से दृष्टि को मोह लेती हैं।

यह भव्य स्मारक कई भागों में अधूरा ही छूटा पड़ा है।

सन् १८६० में जब फ्रेंच प्रकृति-विज्ञानी औनरी मूहो ने दुर्भेद्य कान्तार के मध्य में उसे देखा था तो उसके अदृष्टपूर्व दृश्य पर मुग्ध हो कर उसने लिखा था अँगकोर वाट संसार में अत्यन्त विस्मयावह निर्माण था जिसका प्रतिरूप यूनान अथवा रोम में कभी नहीं बना था। उत्तरवर्ती यात्रियों ने उसका सादृश्य पेसीरिया के एक मन्दिर से किया है।

——:o:——

धर्मनिष्ठाएं।

भारत की दो महती धर्मनिष्ठाएं—कम्बोडिया का इतिहास तीन शताब्दियों से अधिक प्रायः एकान्ततः महत्त्वपूर्ण मन्दिरों के प्रतिष्ठापन में प्रवाहित होता हुआ देखा गया है। उसने इस बीच उस धर्मनिष्ठा को अपना केन्द्र बनाया जो तत्कालीन अपरिश्रान्त निर्माताओं को अनुप्राणित करती थी।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भारत की दो महती धर्मनिष्ठाओं—ब्राह्मणी-धर्म और बौद्ध धर्म—ने वहाँ अपना बोलबाला स्थापित किया था। यद्यपि ये दोनों धर्म अनेकों विश्रुत ग्रन्थों से भली भाँति विदित हैं, उस दूरवर्ती उपनिवेश में पहुँच कर उनमें कभी २ ऐसी विशेषताएँ आ गई हैं कि उन्हें चुपचाप छोड़ देना उचित नहीं। यहाँ वे दो गहरी जड़ें डालते हैं जिनकी प्राचीनता प्रागैतिहासिक है।

पितृनिष्ठा—एक ओर वह आरम्भिक विश्वासात्मकता है जो वैदिक काल में अपने आपको दीप्तिमत्ता के साथ प्रदर्शित करती है और सम्पूर्ण प्रकृति—तारों, पंच-तत्त्वों, पर्वतों, नदियों, स्रोतों, वृक्षों, पौधों—को देवत्व प्रदान करती है। दूसरी ओर प्राक्तन पितृनिष्ठा है जो एशिया के महान् धर्मों से पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी और आगे चलकर उन धर्मों का ही अंग बन गई। कम्बोडिया में यह पितृ-निष्ठा केवल निज पितरों

के लिए ही नहीं किन्तु अकिञ्चन अथवा परित्यक्त लोगों के, उनके, जो दूर देश में मरे हैं, पितरों के लिए भी वार्षिक श्राद्ध, और्ध्व-देहिक पिण्डोदक, तर्पण आदि के रूप में जिनमें अभ्यागतों और प्राणिमात्र को दक्षिणादि दी जाती है, सदा से ही विद्यमान रही और वर्तमान समय में भी विद्यमान है ।

इन ठोस आधारों पर भारतीय औपनिवेशिक कर्मण्यता ने दो प्रधान धर्मों और मातृ-भूमि के सारे दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की ।

कम्बोडिया में हिन्दू सिद्धांत—थोड़े से समय में यहाँ पर हिन्दू सिद्धांत का सार दिया जाता है जो तेरहवीं शताब्दी के लगभग तक अपने आप को कम्बोडिया में कायम किये रहा ।

सर्वव्यापी, अनन्त, अजर, अमर, नित्य, परम पुरुष, निर-पेक्ष ब्रह्म, जिससे देवता, मनुष्य, पशु, सभी प्राणियों का प्रादु-र्भाव होता है, अपने आपको ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन महान् प्रमुख देवताओं के रूप में व्यक्त करता है, जिनका काम क्रम से सृष्टि, संरक्षण और संहार है । इन्हीं तीन व्यक्तियों के रूप में उसे कार्य करने की क्षमता प्राप्त होती है, वह सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों—इन तीन सूक्ष्म तत्त्वों—को धारण करता है, जो सभी वस्तुओं में, प्रकृति की शक्तियों को ग्रहण करनेवाले सभी पदार्थों में ओत प्रोत संनिहित हैं ।

दूसरी ओर अनेकों परिवर्तनशील लोकों में, जहाँ, दुःख का साम्राज्य है, भिन्न भिन्न आत्माएँ अपने अपने कर्मों के अनु-

सार अनवरत आवागमन के चक्र में तब तक परिभ्रान्त होती रहती हैं जब तक वे मुक्त न हो जांय अर्थात् परमात्मा में मिल कर तद्रूप न हो जांय।

नाम और रूप जिसे वह सूचित करता है, एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। अक्षर, पदांश, पद एक स्वाभाविक उत्कृष्ट शक्ति से सम्पन्न हैं, जो क्रिया की शक्ति है। अतः, इन तीन महान् देवों में से प्रत्येक अ उ म् इन तीन अक्षरों में से एक एक से उपलक्षित है, जिनका मेल 'ओम्' इस प्रणव को बनाता है जो निरपेक्ष ईश्वर का उपलक्षण है; जिस प्रकार अन्य सभी त्रिक–उदाहरण के लिए, समय के भूत, वर्तमान, भविष्यत्—हैं।

इन तीन दिव्य व्यक्तियों में से केवल एक ही की चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु—उसके भक्त वन्दना करते हैं और उसे परम पुरुष में ही संमिलित कर लेते हैं, जबकि अन्य दो—साधरणतया ब्रह्मा—द्वितीय श्रेणी में ढकेल दिये जाते हैं।

कम्बोडिया में यह धर्मनिष्ठा शिव या महादेव पर केन्द्रीभूत है, जो अनाधार और अनंत, अपने स्वभाव में अनन्य-सामान्य, अपने रूपो में अनेक, प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। उसीसे ब्रह्मा और विष्णु का प्रादुर्भाव होता है। उसका उपलक्षण उसका लिङ्ग है जो उत्पादयित्री शक्तिमत्ता का चिह्न है।

शिव और उसकी पत्नी दुर्गा अथवा काली अनेक प्रतिमाओं से भी प्रदर्शित किये गये हैं। तब, तद्विषयक धर्मनिष्ठा सम्भवतः खूनी थी, जिसमें विशेष अवसरों पर मनुष्यों की बलि दी जाती थी।

विष्णु और उसकी पत्नी श्री अथवा लक्ष्मी का भी आह्वान किया जाता है और उनकी वन्दना की जाती है किन्तु बहुत कम। ब्रह्मा और उसकी पत्नी सरस्वती दुर्लभतया उपासना-कोटि में स्थान पाते हैं।

कम्बोडिया में विष्णु-और-शिव-सम्बन्धी धर्मनिष्ठाएँ मिल कर हरिहर नाम से एक हो जाती हैं और छठी और सातवीं शताब्दियों में यह मिश्रित निष्ठा विशेष समृद्धि को प्राप्त होती है।

मातृभूमि की भाँति यहाँ भी ये तीनों प्रमुख देव—जिनके अनेकों रूप और अवतार हैं—द्वितीय श्रेणी के अनेकों देवताओं से परिवृत हैं जो यज्ञ आदि में उनके साथ भाग लेते हैं।

यह अभिभावी हिन्दू धर्म पवित्र अग्नि से भी उपलक्षित है जो अनपायी प्रकाश—अशेष प्रकृति में व्याप्त सूक्ष्म और उत्पादक तत्त्व—का चिह्न है। जैसाकि सभी वैदिक धर्मी जानते हैं यज्ञादि विधानों और विवाहादि महान् संस्कारों में उसकी उपस्थिति अनिवार्य है; यही नहीं, उसे देवताओं का मुख माना गया है।

कम्बोडिया के ब्राह्मणों में जाति-विषयक बन्धन शिथिल हो चले थे। यदि वे साधारणतया पुरोहित और उच्च कोटि के पंडित होते थे तो उनमें कुछ ऐसे भी थे जो शिल्पी बनते थे; और उनकी पुत्रियाँ प्रायः राजाओं की प्रेयसियां बनती थीं।

कम से कम यह निश्चित है कि वे प्रतिग्रह के लोलुप थे। ब्राह्मण पुरोहितों और बौद्ध भिक्षुओं को दी हुई वस्तुओं की

परिगणना शिलालेखों के अत्यन्त साधारण विषयों में एक है, विशेषकर ग्रामीण भाषा में। द्रव्य, रत्न, आढ्य वस्त्र, बहुमूल्य धातु के उपकरण, सेवावृत्ति के लिए और मन्दिरों को भेंट किये हुए दासों के नाम और उनकी परिसंख्या, गाय, बैल, भैंस वाहक पशु, रथ. भूमि, विशेष परिस्थिति के खेत जिनकी सीमाएँ निर्धारित की गई हैं, यही नहीं, अरेका, नारियल आदि वृक्ष तक उल्लिखित हैं।

फलतः धर्मविषयक अभिशापों की प्रचुरता देखने में आती है, जो धर्मस्व के अपहरण करनेवालों को परलोक के यावच्चन्द्रदिवाकरकालीन कष्टों का भय दिखलाते हैं।

मन्दिर के कर्मचारियों और पुलिस, धर्मनिष्ठा और उसकी विशेषता के सम्बन्ध में अनेकों विधान हैं। अपराधों के लिए उनकी विशेषताओं के अनुसार प्रायश्चित्त विहित हैं।

भारतीय धर्मनिष्ठाओं में प्राणियों के भिन्न भिन्न वर्गों—उदाहरणार्थ देवताओं और मनुष्यों में—कोई अनुल्लङ्घनीय भेदभाव नहीं रखा गया है। यदि दास आदि निम्न श्रेणी के लोग मानवता से नीचे स्थानापन्न किये गये हैं तो इसके विरुद्ध राजा लोग और पुरोहित दैवी शक्ति के व्यक्तीकरण माने गये हैं। अपने पुण्यों के द्वारा वे उस उच्च श्रेयस्कर भावी दीर्घ जीवन की अपने आपको प्रतीति दिला सकते हैं जिसमें देवता लोग आनन्द-लाभ करते हैं।

देवत्व-प्रदान—कम्बोडिया में इस भारतीय विश्वात्मकता की प्रगाढ़ता का एक विलक्षण व्यक्तीकरण उच्च श्रेणी

के विश्रुत पुरुष स्त्रियों का देवत्व को प्राप्त होना—उनका अपने उपास्य देव के साथ पूर्ण तादात्म्य—है। कम्बोडिया-निवासियों में यह एक परिचित विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति की सूक्ष्म आत्मा किसी एक मूर्ति का अंग बन सकती है जहाँ वह किसी एक विशेष ढंग से दिव्य आत्मा से मिल जाती है। हम देख ही चुके हैं कि नवीं शताब्दी के महान् सम्राट् जयवर्मा परमेश्वर के द्वारा देवराज और उसकी धर्म-निष्ठा के प्रतिष्ठापन-समय से एक पारमार्थिक पृथक्करण, अव्यक्त और शाश्वतिक राजात्मकत्व, एक लिङ्ग में अंग रूप से मिलाया गया था।

मानवी और दैवी सत्ताओं का संमिलन— मानवी और दैवी, दो पृथक् सत्ताओं के सम्मिलन के इस विश्वास के उदाहरणों का शिलालेखों में अभाव नहीं है। एक तपस्वी, जो अपने आपको मानव शरीरधारी परम पुरुष कहता है, अपनी अंतड़ियों से एक दिव्य लिङ्ग को खींच निकालने का बहाना करता है, जिसकी वह प्रतिष्ठापना और उपासना करता है, तब से वह विश्वात्मा के प्रतिनिधि-देव शिव से अपना तादात्म्य करता है जिसमें कि मरने पर उसे लीन होजाना चाहिए। संग्राम नामी एक विजयी सेनापति ने विद्रोहियों से जीती हुई सम्पत्ति सुवर्ण-लिङ्ग में स्थित राजा की सूक्ष्म आत्मा की भेंट की थी, सम्राट् की इस सूक्ष्म और अनश्वर आत्मा को देवत्व प्रदान किया गया था और शैव धर्मनिष्ठा से साहचर्य किया गया था।

मृत्यु के बाद अथवा जीवन-काल ही में उच्च स्थिति के

पुरुषों की प्रतिमाएँ बनती थीं और उनको देवत्व प्रदान किया जाता था। सन् १००१ में किसी एक राजकुमार ने एक मन्दिर को एक सुवर्ण-प्रतिमा दी थी, जो उसकी अपनी ही भावी मूर्ति थी।

जान पड़ता है प्रतिमाओं के रूप में व्यक्त ये असंख्य पुरुष दो स्वरूपों में प्रदर्शित किये जाते थे। एक तो उनका मानवी स्वरूप होता था जिसमें उनके जीवन की विशेषताओं को व्यक्त किया जाता था और उनकी उपाधियों और उनके गुणों को सुरक्षित रखा जाता था—यदि उनके जीवन-काल में ही उनको देवत्व प्रदान किया जाता; इस दशा में मूर्ति की आँखें खुली होती थीं। दूसरा मृत्यु के बाद का पारमार्थिक स्वरूप होता था जिसमें उन्हें उच्च दिव्य नाम प्रदान किया जाता था और उनकी आँखें बंद रखी जाती थीं। किन्तु जीवनकाल में हो अथवा मृत्यु के पश्चात्, उनकी व्यक्तिगत उपाधियाँ, जो उस देश में वास्तविक नाम के स्थान को ग्रहण करती थीं, हमेशा सावधानतया सूचित की जाती थीं; नाम में एक ऐसी विशेषता होती थी जो प्राणी के गुणों में भाग लेती थी।

भव्य व्यक्तिओं, राजा महाराजों, महापुरुषों और महिलाओं के इन सामान्य दैवी-भावों के फलस्वरूप में मन्दिर केवल ब्राह्मणी देवताओं के ही पुण्य-स्थल नहीं रहे, उनके बुर्जों और उनकी गैलरियों में और्ध्वदेहिक भस्मावशेष-पात्र और जीवित अथवा मृत पुरुषों की दिव्य प्रतिमाएँ भी स्थान ग्रहण करती थीं।

भस्म और अस्थि-शेष राजाओं और उच्च व्यक्तियों के लिए सोने वा चाँदी के प्रेत-पात्रों में और साधारण लोगों के रंग विरंगे मिट्टी के पात्रों में रखे जाते थे; उनके परिवार के लोग उन्हें यह प्रतिष्ठा और पारमार्थिकता प्रदान करते थे। क्योंकि प्रेत जन, जो अदृश्य, रहस्यपूर्ण और शक्तिशाली समझे जाते हैं, निरन्तर जीवित जनों के आस पास विचरण करते रहते हैं और उन्हीं के परितोष पर इनकी समृद्धि और सौभाग्य निर्भर हैं।

लौकिक मत मतान्तरों, धर्मनिष्ठाओं और अन्ध-विश्वासों ने सर्वत्र देवी देवताओं का प्रसार किया और मानवता को अलौकिकता की ऐसी परिस्थिति में रक्खा कि कतिपय शिलालेख शिव को भी मानवी स्वरूप में प्रदर्शित करते हैं; वह पुरोहितों के साथ वार्तालाप में भाग लेता है और उन्हें आज्ञाएँ देता है।

देवत्व को प्राप्त हुए मनुष्यों की कतिपय प्रतिमाएँ, जो—उदाहरण के लिए बाँटेइ क्मर में—अब तक विद्यमान हैं, अपने ललाट पर तक्षण किये हुए बुद्ध की प्रतिकृति को धारण करती हैं। सम्भवतः यह मूर्ति व्यक्तियों के आत्मीय विश्वास का स्पष्ट चिह्न है। यह देवात्मकता केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं थी, मूलतः बौद्ध धर्म के भी वह अनुकूल थी। पुरोहितों ने देवताओं की सृष्टि की, जिनकी शक्ति अत्यधिक और जिनका अस्तित्व सुदीर्घ होता था किन्तु जिनके स्वभाव में मानव-स्वभाव की अपेक्षा कोई विशेष भिन्नता नहीं होती थी।

बौद्ध धर्म का प्रसार—बुद्ध ईसा मसीह के पूर्व

पांचवीं शताब्दी में भारत में विद्यमान था। उसने चार सच्चाइयों का प्रचार किया। जीवन दुःखमय है; इस दुःख का कारण चार सच्चाइयों का ज्ञान है; स्पृहणीय उद्देश्य मुक्ति, ज्ञान के द्वारा दुःख शोक का अभिभाव, इन सच्चाइयों का ज्ञान है; इस अभिभाव अथवा निग्रह के साधन निर्वाण को प्राप्त कराते हैं।

इस असारता की दार्शनिकता के मूल विचार वस्तुओं की अनित्यता और आवागमन के चक्र को बनाये रखनेवाली कारण-परम्परा की शृंखला हैं।

इस के विपरीत प्रभु की मूर्ति कैसी सुन्दर है! शान्ति और सौम्यतापूर्ण महनीयता, प्राणिमात्र के लिए अनन्त स्निग्धता, पीड़ितों के लिए सदयता, पूर्ण सच्चरित्रता, स्वतन्त्रता और विश्वजनीनता का सुसम्पन्न अनवद्य प्रत्यादर्श है। उसकी धर्मनिष्ठा का प्रचार इतिहास में समय की दृष्टि से सब से पहला स्थान ग्रहण करता है। यह सब के लिए एक शुभ समाचार था जिसने मौखिक परम्परा से प्रसार पाया, क्योंकि उसके जानने में उतना ही आनन्द था जितना उस के फैलाने में।

बौद्ध धर्म ने प्रायः सारे एशिया में प्रसरण किया। इसी प्रकार जिस समय सुमात्रा और जावा और प्राचीन कम्बोडिया भारतीयता के पुष्पोपम प्रसार में रंगे जा रहे थे महायान बौद्ध धर्म ने वहाँ भी प्रवेश करके अपना बोलबाला दिखलाया।

कम्बोडिया में बौद्ध धर्मनिष्ठा—कम्बोडिया में यह बौद्ध धर्मनिष्ठा राष्ट्र के आरम्भ ही से अस्तित्व में आई हुई प्रतीत होती है। उसका चिन्ह छठी शताब्दी में, जब जयवर्मा प्रथम

नागासीन बुद्ध ।

राज्य करता था निश्चयात्मकता से दृष्टिगोचर होने लगता है। ६७५ और ६६५ के बीच चीनी बौद्ध इत्सिंग यह शिकायत करता है कि फूनान के एक दुष्ट राजा ने बौद्ध सिद्धान्तों का मूलोच्छेद कर डाला था और सारे बौद्धों को भगा अथवा नष्ट कर डाला था। किन्तु अभी तक कोई ऐसी बात दृष्टिगोचर नहीं हुई है जो इस धार्मिक यात्री की उलाहना को पुष्ट करती हो।

६६५ के लगभग, जब जयवर्मा द्वितीय राज्य करता था, बौद्ध भिक्षु प्रतिच्छायाओं में विद्यमान हैं। आठवीं शताब्दी में पूर्ण पृथकता से तीन बौद्ध देवताओं को दास उपहार में दिये जाते हैं। किन्तु इस समय तक बौद्ध धर्मानुयायी अप्रसिद्ध और अल्पसंख्यक थे।

किन्तु नवीं शताब्दी में जयवर्मा परमेश्वर के राजत्वकाल से स्थिति बिल्कुल भिन्न हो चुकी थी। प्रधान धर्मनिष्ठा न होने पर भी बौद्ध मत राजकीय अनुग्रह का भाजन होता जाता था और वह उत्तरोत्तर प्रवृद्ध और विकसित होने लगा था। सूर्यवर्मा प्रथम के पारमार्थिक नाम 'निर्वाणपद' से जान पड़ता है कि उसने इसे अपनाकर राजधर्म बना लिया था।

शैव मत और बौद्ध धर्म का मेल—कम्बोडिया की दो महती धर्म-निष्ठाओं, शैव धर्म निष्ठा और बौद्ध मत, में कोई विरोध नहीं है। उनके मेल की एक प्रबल विशेषता यह है कि दोनों ही संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। हिन्दू धर्म के प्रभाव से कम्बोडिया के तत्कालीन महायान बौद्ध धर्म में

वह कट्टरपन नहीं रह गया था जो इण्डोचीन के बौद्ध धर्म में विद्यमान था जिसका केन्द्र लङ्का और भाषा पाली थी।

चतुर्मूर्ति—इस प्राचीन कम्बोडिया में हिन्दू धर्म ने घनिष्ठता से अपने अन्दर बौद्ध धर्म को ग्रहण किया, उसके उचित संगठन के लिए परिस्थिति प्रदान की, अंशतः अपने सिद्धान्तों और रीत रस्मों से उसे आरञ्जित किया, उसके विचारों और लोकाचार में परिवर्तन किया, यही नहीं, अपने देवताओं का उसके साथ ऐसा साहचर्य करवाया कि वह शव गल्पों और रहस्यमयता का एक विलक्षण मिश्रण बन गया। धार्मिक जोश ने किसी भी देवता की उपेक्षा करनी उचित नहीं समझी, ब्रह्मा, विष्णु और बुद्ध की प्रतिमाओं को मिलाकर उन्हें शिव के अधिष्ठातृत्व में प्रतिष्ठापित किया और इस मिश्रण को चतुर्मूर्ति कह कर प्रसिद्ध किया।

मिश्रित देवताओं अथवा बौद्ध देवताओं को सम्पत्ति और दास भेंट किये जाते थे।

प्रभु की तीन अवस्थितियां—बौद्ध लोग साधारणतया 'प्रभु' को तीन अवस्थितियों में प्रदर्शित करते हैं। ध्यानावस्थित अवस्था में वे पलथी मारे सिंहासन पर बैठे हैं, प्रचार करते समय वे हाथ उठाये खड़े हैं, लेटी हुई हालत में वे निर्वाण में निमग्न हैं।

नागराज और बुद्ध—प्राचीन कम्बोडिया-निवासियों में जो नाग-विषयक जातीय धर्म-निष्ठा प्रचलित थी, उसने उन्हें ध्यानावस्थित महात्मा बुद्ध को बहुशिरस्क नाग की फणाओं
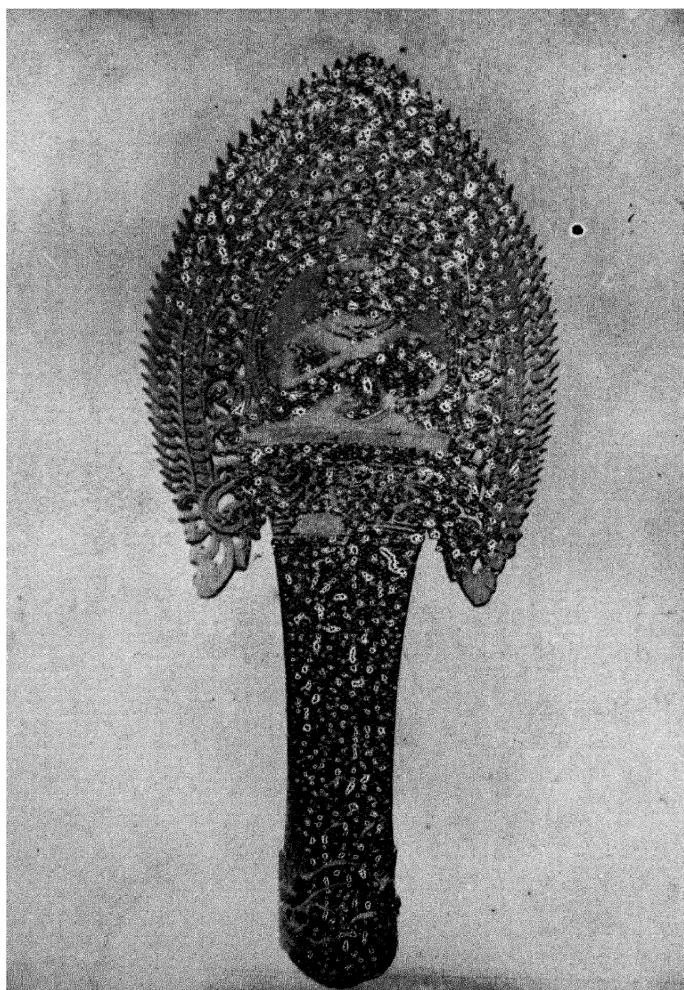
वज्रसत्त्व और बुद्ध ।

पर आसीन करने के लिए प्रेरित किया जिसके अनेक शिर प्रभु के ऊपर छत्रच्छाया का काम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त वे उन बौद्ध गाथाओं को अनुप्राणित करते हैं जो कई वार 'प्रभु' के साथ नागराज का साहचर्य दिखलाती हैं । सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने पर महात्मा बुद्ध शान्त अविचलित भाव से, दुरितात्मा मार के वार वार के प्रहारों को विफल करते हैं। अतः साँप के शरीर की कुण्डलियाँ उनका सिंहासन और उसके शिर उनके दिव्य उत्तमाङ्ग के रक्षयितृ-छत्र हैं।

इसी प्रकार की एक और कहानी बतलाती है कि सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने पर प्रभु भिन्न भिन्न स्थानों में जाकर निवास करते रहे, जहाँ वे प्रत्येक बार एक सप्ताह टिकते थे। इसी तरह एक वार वे मुचलिन्द में टिके थे । मुचलिन्द उस समय एक पर्वत, एक वृक्ष, एक झील और वहाँ रहनेवाले जल-देवताओं के राजा का नाम था। जब उन्हें वहाँ टिके हुए एक सप्ताह हो चुका था तो अनवरत वृष्टि होने लगी । अन्ततः शीत और आर्द्रता से उनकी रक्षा करने के लिए नागराज मुचलिन्द ने उन्हें सात वार अपनी फणाओं से घेर लिया और उनके नीचे अपने मुकुट को इस ढँग से बिछ या कि वे वहाँ ऐसे ही स्व-च्छन्द हरकत कर सकें जैसे कोई किसी कमरे के अन्दर करता है और राज-सिंहासन पर बैठ कर अज्ञान से मुक्त होने और सर्वज्ञता प्राप्त करने की स्निग्ध चेतना का आनन्द ले सकें।

कम्बोडिया-निवासियों को धर्मविधान के प्रभु और राष्ट्र की अधिष्ठात्री देवी की प्रतिमाओं को अपने मन्दिरों में एकत्र कर देने ही से परितोष न होगया। सारे ही देश में स्रोतोवाहिनियों

कम्बोडिया के अन्तिम सम्राट् ।

हर्षवर्मा—सूर्यवर्मा द्वितीय के निकटवर्ती उत्तराधिकारियों के विषय में हमारे पास एकमात्र प्रमाण-सामग्री ता प्रोम का शिलालेख है जिसमें कम्बोडिया के अन्तिम महान् सम्राट् जयवर्मा नवम की प्रशस्ति दी गई है। इसमें राजा के नाना हर्षवर्मा के विषय में कहा गया है कि वह कम्बोडिया का राजा था "जिसने अपने यशोवितान को दिशाओं से परे विस्तृत किया था।" हर्षवर्मा के विषय में हमारा ज्ञान यहीं तक परिमित है। उसे कम्बोडिया के प्रथम राजा श्रुतवर्मा की बहिन का वंशज माना गया है।

जयवर्मा—लाओस में नों वान का खमेर शिलालेख एक जयवर्मा के अस्तित्व को सूचित करता है जो सन् ११६३ के लगभग राज्य करता था। यह शिलालेख राजा की ओर से उच्च पदाधिकारियों और पुरोहितों के लिए आदेश है कि वे रत्नपुर के देवाश्रमों की रक्षा करें।

श्रीयुत ऐमोनिए का अनुमान है कि प्रस्तुत जयवर्मा कम्बोडिया के अन्तिम महान् सम्राट् से भिन्न व्यक्ति था।

धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय—धरणीन्द्रवर्मा ने किसी अनिश्चित समय से सन् ११८२ तक राज्य किया। वह जयवर्मा

पर जो पुल बने हुए हैं उनके नागमय कँगूरों पर कभी कभी बुद्ध की ध्यानावस्थित प्रतिमा को भी स्थान दिया गया है।

महायान बौद्ध धर्म की अभिभाविनी गति— कम्बोडिया के इतिहास के जिस काल तक हम पहुँचे हैं, उसके पश्चात् अर्थात् बारहवीं शताब्दी के मध्य के बाद भी वह महायान बौद्ध धर्म, जिसे सूर्यवर्मा द्वितीय ने सम्मानित किया था अपने अस्तित्व को बनाये रहा और उसकी अभिभाविनी गति ने इस शताब्दी के अन्त तक राष्ट्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और सिंहल-द्वीप के बौद्ध धर्म के लिए माग तैयार किया, जिसने कम्बोडिग्रा की आगामी पीढ़ियों पर अपना सिक्का जमाया है।

——:o:——

सप्तम की बहिन का वंशज और जयवर्मा नवम का पिता था। उसने हर्षवर्मा चतुर्थ की पुत्री श्री जयराजचूड़ामणि से विवाह किया। वह बुद्ध का अनन्य भक्त था।

एक अश्रुतपूर्व विपत्ति—उसके राज्य को कम्बोडिया के इतिहास में अश्रुतपूर्व विपत्ति का सामना करना पड़ा। चीन का प्रसिद्ध इतिहासकार और बृहत्कोश-लेखक मातूआँलिन चम्पा का उल्लेख करते हुए कहता है—"सन् ११७१ में एक चीनी पदाधिकारी था जिसका जहाज तूफ़ान के कारण चम्पा के तट पर जा लगा। यह राष्ट्र उस समय कम्बोडिया के साथ युद्ध कर रहा था। दोनों ओर लड़ाई में हाथियों से काम लिया जाता था। चीनी पदाधिकारी ने चम्पा के राजा को अश्वारोहियों को रखने का उपदेश दिया, और कहा जो धनुषों और क्रूशाकार धनुषों से शत्रु पर बाणों की वर्षा करने में शिक्षित हों। इस युक्ति से फ़ौरन ही सफलता प्राप्त हुई"

खमेर राजधानी पर चम्पा का अधिकार—चीनी इतिहासलेखक के अनुसार नौ-विपन्न चीननिवासी के पथप्रदर्शन में चम्पा की समुद्री सेना ने मेकाँग नदी के मुहाने में प्रवेश किया और खमेर राजधानी तक अपने जहाज़ों को पहुँचाया जिसे उसने आकस्मिकतया अधिकार में कर लिया। वहाँ लूट मार करने के पश्चात् बहुत सा लूट का माल लेकर यह सेना अपने देश को वापिस हुई। चम्पा का एक टूटा हुआ शिलालेख जयेन्द्रवर्मा चतुर्थ की विजयिनी रण-यात्रा का निर्देश करता है। धरणीन्द्रवर्मा ने बदला लेने का काम अपने पुत्र और उत्तराधिकारी जयवर्मा नवम पर छोड़ा।

सिंहल द्वीप से मित्र भाव—इस राजत्व-काल में कम्बोडिया और दूरवर्ती सिंहल द्वीप के बीच मित्र-भाव था। महावंश में हम देखते हैं कि "रामाराय के राजा ने लंका के दूतों को इस बहाने से पकड़ा और क़ैद किया कि वे कम्बोडिया को भेजे गये थे और उसने एक राजकुमारी को भी पकड़ा जिसके लंका के राजा (पराक्रम बाहु, जिसने ११६४ से ११६७ तक राज्य किया) ने कम्बुज देश को भेजा था।" लंका के राजा ने बर्मा के राजा को इस अवमानना का बदला रामाराय में कुसुमि बन्दरगाह पर सफलतापूर्वक आक्रमण करने से दिया। और शायद यही कारण है कि जयवर्मा नवम ने, जैसा कि चीनी इतिहासों में उल्लेख किया गया है, बारहवीं शताब्दी के अवसान के लगभग पीगू को जीता। सम्भवतः लंका की राजकुमारी उसके लिए दुलहिन रूप से भेजी गई थी, जबकि वह अभी युवराज ही था।

जयवर्मा नवम—धरणीन्द्रवर्मा द्वितीय के बाद सन् ११८२ में उसका पुत्र जयवर्मा नवम राज्य का अधिकारी बना और १२०१ तक राज्य करता रहा। उसने अपने अतुल पराक्रम से चम्पा से अपने पिता की विनाशिनी पराजय का बदला लिया और चम्पा के राजा को अपना सामन्त बनाया।

ता प्रोम का शिला लेख—ता प्रोम का शिलालेख जयवर्मा की माता श्री जयराजचूड़ामणि का प्रादुर्भाव कम्बोडिया के प्रथम राजा श्रुतवर्मा और फूनान के विजेता भववर्मा

से बतलाता है। इसके बाद उसके पिता धरणीन्द्रवर्मा का उल्लेख है और जयवर्मा सप्तम और सूर्यवर्मा द्वितीय के साथ उसका सम्बन्ध दिखाया गया है। मंगलाचरण में बुद्ध का आह्वान किया गया है। प्रथम अशेष विश्व के आश्रयदाता बुद्ध की उपासना की गई है; फिर बोधिमार्ग की सन्मानना की गई है जिससे सिरजे हुए जगत् के आशय का अस्खलित दृश्य आँखों के सम्मुख उपस्थित हो आता है। इसके पश्चात् संघ का उल्लेख है जो निर्लेप होने पर भी सदैव दूसरों के हित के कार्य में आसक्त है; अन्ततः लोकेश्वर (अवलोकितेश्वर) का आह्वान किया गया है, जो कल्प वृक्ष का देहधारी अवतार है। १६ वें श्लोक से जयवर्मा की प्रशस्ति आरम्भ होती है; २८ वें श्लोक में पहुँच कर हम पढ़ते हैं,—"अन्य राजाओं ने जब इस महनीय कर्मण्यता की चर्चा सुनी कि वह (जयवर्मा) चम्पा को गया था और उसने युद्ध में वहाँ के राजा को पकड़ कर छोड़ दिया था तो उन्होंने भी हाथ बाँध कर (इस प्रकार के अनुग्रह को) स्वीकार किया।" चम्पा के शिलालेखों और चीनी इतिहासों से हम मालूम करते हैं कि जयवर्मा नवम ने चम्पा को अपने अधीन किया और लगभग तीस वर्ष के लिए उसे कम्बोडिया का सामन्त-राज्य बना छोड़ा। राजगुरु और उसके परिवार के विषय में शिलालेख कहता है,—"उनके वंशजों को सेनापति की उपाधि दी गई थी, मानो वे राजाओं के वंशधर रहे हों।" ३५ वां श्लोक बतलाता है कि जयवर्मा नवम ने राजविभार नामी नगर की स्थापना की और "मुनीश्वर की माता" के पोषण के लिए उसका समर्पण किया। इसके

बाद हमें बतलाया गया है कि उसने अपनी माता की एक प्रतिमा बनवाई जो रत्नों से अलंकृत की गई थी और जो 'जिन' की माता प्रज्ञापारमिता की मूर्ति थी। इस प्रकार राजा की माता का तादात्म्य बुद्धों की माता प्रज्ञापारमिता से किया गया था। उसने अपने गुरु की प्रतिमा भी स्थापित की जो २६० दिव्य मूर्तियों से परिवृत थी। तदनन्तर मूर्तियों को चावल, तिल, मूंग, कंकु (बाजरा), घी, दही, दूध, शहद, गुड़, मीठे तेल, तरुफल के तेल की जो दैनिक बलि दी जाती थी उसका और देवमूर्तियों के लिए वस्त्र और चीनी रेशम की मच्छर-दानियों को देने का उल्लेख है। ४५ वें श्लोक में उन लोगों के आहार के लिए चावलों का परिमाण दिया गया है जो मन्दिर के आचार्य और अध्यापक के साथ रहते थे। अगले श्लोक में वर्ष के १८ उत्सवों में और दोनों पक्षों के आठवें, चौदहवें और पन्द्रहवें दिन को खर्च की जाने वाली सामग्री का परिमाण दिया गया है। ५३ से ५८ वें श्लोक तक गाँवों से लिए जाने वाले प्रतिग्रहों का और अगले तीन श्लोकों में जुलाहों, बाज़ारों आदि से लिये जाने वाले वस्त्र, मोम, सीसे आदि का जिक्र है। ६२ से ८० वें श्लोक तक राजा और जमींदारों के प्रतिग्रहों का उल्लेख है। "यहाँ सब मिलकर १२,६४० मनुष्य हैं जिन्हें मन्दिर की परिधि के अन्दर रहने का अधिकार है। ६६,६२५ पुरुष और स्त्रियां देवताओं की शुश्रूषा करते हैं। सब मिल कर ७९,३६५ मनुष्य हैं जिनमें बर्मा और चम्पा के (क़ैदी) भी सम्मिलित हैं।" अन्तिम वाक्य चीनी इतिहास-लेखकों की इस बात को पुष्ट करता है कि सन् १२९५ के लगभग जयवर्मा

नवम ने पुकन (पगन) को अपने राज्य में मिलाया, जिसमें चम्पा का राज्य पहले सम्मिलित किया जा चुका था ;

६८ से ७५वें श्लोक तक सोनेचाँदी की बहुत बड़ी तादाद ३५ हीरों, ४०,६२० मोतियों, ४.५४० वैडूर्यादि विविध रंगों के अन्य रत्नों, सोने के एक बड़े कड़ाह, थोड़ी सी खड़ियामिट्टी और सीसे की एक बहुत बड़ी तादाद के दान का उल्लेख है। इसके पश्चात् मकानों का ज़िक्र है जिनमें ५६६ पत्थर के बने हुए थे।

८२ वें श्लोक में कहा गया है कि उपाध्याय के साथ ६७० मनुष्य (विद्यार्थी) रहते थे।

८३ से ८९वें श्लोक तक वसंतोत्सव का वर्णन किया गया है जो चैत्र की अष्टमी से उस महीने की पूर्णमासी तक होता था और प्रति वर्ष बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार मनाया जाता था। इस अवसर पर दो याग किये जाते थे । शुक्ल चतुर्दशी को भगवान् को भगवती के साथ और पूर्णमासी की रात्रि को वीर, शक्ति, आदि देवताओं को साथ लकर तीन वार प्रदक्षिणा करनी होती थी। नर्तक नर्तकियों को चारों ओर नाचना होता था और पुरुषों को शुद्धाचरण, सद्व्यवहार आदि पारमिताओं का अभ्यास करना पड़ता था । तीन गुरुओं, एक सहस्र देवताओं और ६१९ दिव्यात्माओं को जो वहाँ निवास करते थे, भेंट चढ़ानी पड़ती थी । १,००० भिक्षु, ब्राह्मण आदि विद्वानों को भोज देना होता था। इसके बाद उन पदार्थों की सूची दी गई है जो राजकीय भाण्डारों से लिये जाते थे । इनमें छल्ले, सुवर्ण, कम्बलें, हाथी दांत के पीढ़े, सुगंधि-मञ्जूषा, चीड़ का

गोंद, मोम, चावल, दही और अन्य विविध सामग्रियाँ, घास की चीनी शय्याएँ, मच्छरदानियाँ, सुगन्धियां आदि संमिलित थीं।

११७वें श्लोक में हम देखते हैं कि—"भिन्न भिन्न प्रान्तों में १०२ आरोग्यशालाएँ हैं और (राज्य में) ७६८ मन्दिर स्थापित किये गये हैं। रोगियों और मन्दिरों में रहनेवालों के उपयोग के लिए सालाना १,१७, २०० खारिका (१ खारिका= १२८ सेर) चावल दिए जाते हैं।"

प्रस्तुत शिलालेख में हमें और भी कई रोचक बातें उपलब्ध होती हैं। उदाहरण के लिए, औषधालयों और मन्दिरों का भरण करने वाले गाँवों की संख्या ८३८ थी। शुश्रूषा करने वाले पुरुष स्त्रियों की गणना ८१,६४० थी। फिर १२० से १४० वें श्लोक तक उन वस्तुओं के नाम दिये गये हैं जो राजकीय भाण्डारों से लीजाती थीं। इनमें रसद के अतिरिक्त मोम, शहद, पीपला, अजवायन, जायफल, क्षार, दो किस्म की कपूर, शतपुष्प, इलायची, लौंग, देवदार, सोंठ, हींग, १,९६० मञ्जूषाएं बवासीर की दवाई के, लहसन आदि सम्मिलित हैं।

अन्ततः राजा यह मनोकामना व्यक्त करता है,—"मेरे इन पुण्य कर्मों से मेरी माता भव-सागर से मुक्त होकर बुद्ध की स्थिति को प्राप्त होवे।"

अन्तिम (१४५वें) श्लोक में बतलाया गया है कि श्रीजयवर्मा के पुत्र श्रीसूर्यकुमार ने महादेवी (प्रज्ञापारमिता जिसके साथ जयवर्मा की माता का तादात्म्य कल्पित किया गया है) की सन्मानना में यह प्रशस्ति की थी।

जयराजदेवी—हाल ही में फिमानाकस में जो शिला-लेख उपलब्ध हुआ है वह जयवर्मा नवम की रानी के विषय में हमें कई रोचक बातें बतलाता है। उसकी पहली रानी जयराज-देवी एक ब्राह्मण की लड़की थी। उसे उसकी बड़ी बहिन इन्द्र-देवी ने शिक्षा दी थी, जो स्वयं बौद्ध धर्मानुयायिनी और बड़ी विदुषी थी और तीन विहारों में धर्म-ग्रन्थों को पढ़ाती थी। राजा उसकी बुद्धिमत्ता के महत्त्व को जानता था और उसकी बहिन के मर जाने पर उसने उसे अपनी पटरानी बनाया। इसीने फिमानाकस के प्रस्तुत संस्कृत शिलालेख की रचना की थी।

औषधालयविषयक शिलालेख—जयवर्मा नवम के औषधालयविषयक लगभग दस शिलालेख मिले हैं। इन सब में कुछ भिन्नताओं को छोड़ कर एक ही बात दोहराई गई है। आरम्भ में तीन अवस्थाओं—निर्वाण, धर्म और संभोगकायों—में बुद्ध का आह्वान किया गया है, जो अस्तित्व और अनस्तित्व से परे और अपौरुषेय है। इसके बाद बुद्ध भैषज्यगुरु और बोधिसत्त्व सूर्यवैरोचन-चन्द्ररोचि और चन्द्र-वैरोचनरोहिणीश का—जो रुग्णता के अन्धकार को दूर करते हैं—आह्वान है। ये दो चीन, तिब्बत और जापान में भैषज्यकला के अधिष्ठातृ-देव की हैसियत से भली भाँति विश्रुत हैं। फिर जयवर्मा नवम की प्रशस्ति है, जिसमें हमें बतलाया गया है कि वह अपने दुःख से इतना दुःखी नहीं होता था जितना कि प्रजा की शारीरिक वेदनाओं से उसकी आत्मा को कष्ट होता था।

उसने वैद्यों की सहायता से राष्ट्र के व्याधिरूपी शत्रुओं को नष्ट कर डाला।

चम्पा और पगन पर विजय—चम्पा के शिलालेख हमें बतलाते हैं कि जयवर्मा नवम ने सारे देश पर विजय प्राप्त की, सन् ११९० में राजधानी पर अधिकार किया और वहाँ एक फ़ौजी गवर्नर रक्खा। चीनी इतिहास-लेखक मा-तुआन-लिन के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है।

एक और इतिहास-लेखक ने चम्पा और पगन को निश्चयात्मकता से कम्बोडिया की १२ अधीनस्थ रियासतों में संमिलित किया है। श्रीयुत ऐमोनिए अन्य चीनी इतिहासकारों का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि १२ वीं शताब्दी के अन्त के लगभग पुकम कम्बोडिया में मिला लिया गया था। सम्भवतः पुकम से यहाँ पर पीगू अभिप्रेत है जो पगन के अधीन था। चेवलि और तेंगलिऊमा (मलाया प्रायःद्वीप में) दो और रियासतें भी कम्बोडिया में मिलाई गई थीं। अतः जयवर्मा नवम के प्रभुत्व में कम्बोडिया की सीमाएँ पूर्व में चीनसागर तक, पश्चिम में बंगाल की खाड़ी तक और दक्षिण में मलाया प्रायःद्वीप तक विस्तृत थीं। इस विस्तार का राज्य के साधनों पर बहुत भारी असर पड़ा होगा और सम्भवतः राष्ट्र के भावी पतन के कारण में वह भी एक कारण था।

जयवर्मा नवम सन् १२०२ में परम धाम को सिधारा। उसका पारमार्थिक नाम महापरमसौगत था।

जयवर्मा नवम के उत्तराधिकारी—सन् ११२४ में मंगलार्थ के मन्दिर में जो शिलालेख उपलब्ध हुआ था उससे हम जयवर्मा नवम के उत्तराधिकारियों के विषय में वह ज्ञान प्राप्त करते हैं जो उस समय तक अप्राप्य था। यह शिलालेख हमें बतलाता है कि नरपति देश में हृषीकेश नामी एक वेद-पारगामी ब्राह्मण रहता था। जब उसने सुना कि कम्बोडिया में वेदों के ज्ञान का बड़ा आदर होता है तो वह उस देश को गया। जयवर्मा नवम ने उसे राजपुरोहित बना कर श्री जय महाप्रधान की उपाधि दी। जयवर्मा के पुत्र और उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मा द्वितीय के मरने पर वह उसकी आत्मा की शान्ति के लिए भीमपुर के एक शिव-मन्दिर में प्रार्थना करने गया। वहाँ उसने एक शैव परिवार की एक श्रीप्रभा नाम्नी लड़की से विवाह किया। श्रीप्रभा से उसकी जो दूसरी कन्या उत्पन्न हुई थी वह जयवर्मा दशम को ब्याही गई और उसने चक्रवर्ती राजदेवी का पद ग्रहण किया। श्री प्रभा की छोटी बहिन सुभद्रा ने अध्यापकाधिप मंगलार्थ से विवाह किया। उनका पुत्र महनाथ एक बड़ा व्युत्पन्न वैयाकरण और इन्द्रवर्मा के राजत्व-काल में स्वयं अध्यापकाधिप था। जयवर्मा दशम ने राजधानी में उसकी और उसकी माता सुभद्रा की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। बाद को उसने उनकी सन्मानना में एक मन्दिर का प्रतिष्ठापन किया। इस मन्दिर को जयवर्मा दशम के दो उत्तराधिकारियों, श्रीन्द्रवर्मा और श्रीन्द्रजयवर्मा, से भी प्रतिग्रह प्राप्त हुआ।

अतः इस शिलालेख से हम मालूम करते हैं कि जयवर्मा नवम के बाद इन्द्रवर्मा द्वितीय (१२०१ से १२४३ तक) ने राज्य किया। उसके पश्चात् जयवर्मा दशम आया जिसने १२४३ से १२९५ तक राज्य किया। जयवर्मा के बाद श्रीन्द्रवर्मा राज्य का अधिकारी बना।

कम्बोडिया का पतन—इसी बीच कम्बोडिया का पतन आरम्भ हो चला था। चीनी लेखक हमें बतलाते हैं कि १२२० के लगभग चम्पा को खाली करना पड़ा था। श्याम ने कम्बोडिया की अधीनता से मुक्ति प्राप्त की और एक आरम्भिक शिलालेख के अनुसार वहाँ के निवासी अपने देश से आर्य-सभ्यता का नाम व निशान मिटाने में संलग्न थे।

——:o:——

ईश्वरपुर का मन्दिर

बाँटेई श्रेई—प्राचीन कम्बोडिया में ईश्वरपुर नाम का एक नगर था। वहाँ त्रिभुवन महेश्वर का विख्यात मन्दिर था। इस मन्दिर के खण्डहर अँगकोर थाम से २५ किलोमीटर की दूरी पर एक घने जंगल में प्राप्त हुए हैं। कम्बोडिया के निवासी उसे बाँटेई श्रेई कहते हैं। इस मन्दिर के खण्डहरों का ज्ञान पहले पहल १६१४ ईस्वी में हुआ था। १६१६ ईस्वी में पारमान्तीए महोदय ने इन खण्डहरों का परीक्षण किया और इन्द्रवर्मा की कला नामक अपने लेख में इनका संक्षिप्त वर्णन किया। उसने यह घोषणा की कि इस मन्दिर की बनावट और अलंक्रिया का ढंग इतना सर्वाङ्गसम्पूर्ण और निराला है कि उसका विशेष अध्ययन किया जाना चाहिए। इन्दोचीनी पुरातत्त्व विद्या के तीन प्रसिद्ध विद्वानों (फीनो, पारमान्तीए और गोलोनो) की सहकारिता से हाल ही में इस मन्दिर की कला और तत्सम्बन्धी शिलालेखों पर प्रकाश पड़ा है।

ईश्वरपुर के शिलालेख—ईश्वरपुर के मन्दिर से ग्यारह शिलालेख उपलब्ध हुए हैं जो कि बड़ी आसानी से दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(१) चार शिलालेख जो एक ही युग के हैं और जिनमें से तीन पर ८६१ और ६३३ शक संवत दिया हुआ है। यह

शिलालेख ईश्वरपुर में त्रिभुवन महेश्वर के मन्दिर के लिए जो दान महाराज जयवर्मा पञ्चम और सूर्यवर्मा ने किया था उसका वर्णन करते हैं।

(२) बाकी शिलालेख इन से लगभग ३०० वर्ष बाद के हैं जो उस समय के कुछ प्रसिद्ध विद्वानों और राजकर्मचारियों का उल्लेख करते हैं इस विद्वद् समवाय में मध्यवर्ती और विशेष पूजनीय राजगुरु यज्ञवराह है।

ईश्वरपुर के मन्दिर निर्माण—ईश्वरपुर के मन्दिरों के निरीक्षण से विद्वानों ने यह निश्चय किया है कि बाहरी मन्दिर और दो गोपुर शेष भागों से बहुत अधिक प्राचीन हैं और दसवीं शताब्दी के बने हुए हैं। भीतर के छोटे छोटे मन्दिर उसके बहुत पीछे के हैं और सम्भवतः वे चौदहवीं शताब्दी में पूर्ववर्ती मन्दिर के भीतरी भाग को गिरा कर बनाए गए हैं और इसी लिए परिमाण में वे इतने अस्वाभाविक हैं, उनकी सीढ़ियां इतनी तंग हैं और उनके द्वार इतने छोटे हैं कि उनमें प्रवेश करते हुए हमें शरीर को दोहरा करना पड़ता है। इतने तंग मन्दिर बनाने का एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि जिस स्थान में पहले केवल एक मन्दिर था वहां बाद में तीन मन्दिर बनाए गए।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ईश्वरपुर के शिलालेख भी दो युगों के हैं और इन दो युगों का अन्तर ३०० वर्ष के लगभग है। मन्दिरों की बनावट में विभिन्नता तो अवश्य है परन्तु वह सूक्ष्म निरीक्षण से मालूम होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि

इन दो युगों के अन्तर्वर्ती काल में कम्बुज कला का ह्रास हो चुका था और चौदहवीं शताब्दी में उस अनुपम कला को पुनर्जीवित करने के निमित्त सुमहान् प्रयत्न किए जारहे थे । उत्तरकालीन के शिल्पियों ने यहाँ प्राचीन कला शैली की नक़ल उतारने में बहुत सफलता प्राप्त की है । नकल करने की उत्कट इच्छा में उन्होंने कई स्थलों पर प्राचीन शैल के अव-गुणों को भी अपना लिया है, नकल चाहे कितनी ही अच्छी हो उसकी त्रुटियाँ भी स्पष्ट हैं । नकल के लिए नमूनों का चुनाव बहुत अच्छा है और बहुधा तक्षण कार्य बहुत सुचारु रूप से किया गया है । मन्दिर के द्वारों के रक्षक राक्षस तो कुम्बुज कला के सर्वोत्तम अवशेषों में से हैं ।

कम्बोडिया के इतिहास पर नया प्रकाश— ईश्वरपुर के मन्दिर और शिलालेखों से कम्बोडिया के इतिहास पर एक नवीन प्रकाश पड़ता है । अब तक सब विद्वानों की यही धारणा रही है कि कम्बोडिया का प्राचीन राज्य और उसकी महती कला तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से ह्रास को प्राप्त हो चली थी । अन्तिम शिलालेख ११६६ शक संवत् का था जिसमें जयवर्मा नवम का वर्णन था । इसके बाद प्रश-स्तियों का कम्बुज अन्त हो जाता है । ऐसा मालूम होता है कि कला और संस्कृति अपने अन्तिम चमत्कार दिखा चुकी हैं और अब अवनति के पथ पर अवतरण कर चुकी हैं । वह अपनी शक्ति का अन्तिम तेज अँगकोर वाट में दिखा कर अब इस कार्यक्षेत्र से अन्तर्हित होने वाले थे । इस अवनति का कारण क्या था ? हमें बताया गया कि चम्पा के विरुद्ध लगा-

तार युद्धों के संघर्ष में खमेरी की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। और स्याम निवासियों के निरन्तर आक्रमणों से उनका साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा था। यह बड़े निश्चय से कहा जाता था कि जयवर्मा नवम कम्बोडिया का अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् था और उसकी मृत्यु कम्बुज साम्राज्य की मृत्यु थी। ऐमोनिए के शब्दों में उसके बाद तेरहवीं शताब्दी की अन्धकारमय रात्री का आरम्भ होता है।

ईश्वरपुर और उसके मन्दिरों और शिलालेखों के अध्ययन से पूर्व इतिहासकों का ज्ञान यहीं तक परिमिति था। अब हम जानते हैं कि कम्बोडिया का साम्राज्य न केवल तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ में वरन् चौदहवीं शताब्दी के मध्य में भी विद्यमान था। उस समय भी ललित काव्यशैली में प्रशस्तियाँ लिखी जाती थीं। पण्डितों और विद्वानों का राजधानी में अभाव न था। इस साम्राज्य में विद्या और संस्कृति की इतनी प्रतिष्ठा थी कि दूरवर्ती देशों के विद्वान् यहाँ की राजसभा में आकर आश्रय प्राप्त करते थे। यही नहीं, यदि हम कहें कि विद्वान् ब्राह्मण राज्य करते थे तो भी वास्तविक अर्थों में अत्युक्ति नहीं होगी। विद्वान् पण्डितों के हाथ में साम्राज्य की बागडोर थी। प्रधान पदों पर वे नियुक्त किए जाते थे। वे सम्राट् के कृपा पात्र थे। उनकी लड़कियाँ राजमहिषी के पद को अलंकृत करती थीं। वह स्वयं राजगुरु, राजपुरोहित सचिव और अमात्य थे। इन विद्वानों का राजा यज्ञवराह है। अथवा इन वेदज्ञों, वैयाकरणों, कवियों और दार्शनिकों की समाज में पण्डित राजही सम्राट् है। यह कहना भी बिल्कुल

अत्युक्ति नहीं। वह सम्राट् नहीं, स्वयं देवता था। सम्राट् उसके निमित्त मन्दिरों का प्रतिष्ठापन करता था और उसे देवत्व प्रदान कर अमर करने की चेष्टा करता था।

चौदहवीं शताब्दी की कम्बुज कला—यह है उस समय की विद्वन् मण्डली का दिग्दर्शन। कला के क्षेत्र में बाँटेई श्रेई के उत्तरकालीन निर्माणों से यह स्पष्ट है कि कई अंशों में खमेर कला बारहवीं शताब्दी में नहीं वरन् चौदहवीं शताब्दी में अपने शिखर पर पहुँची है। यह निर्माण राजदरबार के सदस्यों ने बनवाए हैं। कुछ तो (मंगलार्थ का मन्दिर) राजधानी में है और कुछ (ईश्वरपुर का मन्दिर) राजधानी से २५ किलोमीटर की दूरी पर। साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्त में इस समय के निर्माणों के अवशेष नहीं मिले हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह स्यामी आक्रमणों का युग है। अयोध्या की स्थापना का समय दूर नहीं है। सम्भव है कि साम्राज्य के दूर देशों के विद्वानों ने अपनी संस्कृति और विद्या की रक्षा के लिए राजधानी में आश्रय लिया हो। इसका निष्कर्ष यह है कि इस समय कम्बुज साम्राज्य के दूरवर्ती अंग शिथिल हो चुके हैं परन्तु उसके केन्द्र—उसके हृदय—में अभी जान बाक़ी है।

चौदहवीं शताब्दी की कला सौन्दर्य और चारुता में बहुत ऊँचे दर्जे की है परन्तु इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि यह सौन्दर्य ह्रास की उद्घोषणा कर रहा है—यह दीपक की अन्तिम टिमटिमाहट है। ईश्वरपुर एक सुन्दर और सुचारु खिलौना है जिसका अङ्कोर वाट के आलीशान मन्दिर से

मुकाबिला करना उपहास मात्र है। प्राचीन कला को पुनर्जीवित करने का यह प्रयत्न श्लाघनीय है और यदि इसका पूर्ण विकास हो पाता और दुर्दैव इसकी गति को जन्मकाल में ही न रोक लेता तो निस्सन्देह कम्बुज कला के इस रूप से भी अनुपम कृतियों की आशा हो सकती थी। परन्तु दुर्भाग्य ने यहीं इसके प्रवाह को रोक दिया। प्राचीन कम्बोडिया के विशाल साम्राज्य का यह अन्तिम दृश्य है। यहाँ सर्वनाश के चिन्ह आरम्भ हो चले हैं जो अपने भयङ्कर आघातों से इस विस्मयावह कला और संस्कृति को हड़प करने में सर्वथा सफल हुए हैं।

इन शिलालेखों से हमें ज्ञात होता है कि जयवर्मा नवम के उत्तराधिकारी का नाम इन्द्रवर्मा था और उस की मृत्यु सम्भवतः ११६५ शक सम्वत अथवा १२४३ ईस्वी में हुई। इस के बाद यह शिलालेख एक अन्य जयवर्मा का उल्लेख करते हैं जो मृत्यु के उपरान्त परमेश्वरपद के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसको इतिहासज्ञ जयवर्मा दशम कहते हैं। क्या वह इन्द्रवर्मा के बाद तुरन्त ही सम्राट् बन गया था? इसका निर्णय करना मुश्किल है। हम जानते हैं कि उसने शक सम्वत १२७७ अथवा १२९५ ई० में राज्यपद को त्याग दिया था। एक ओर तो राजपुरोहित जयमहाप्रधान की मूर्ति की स्थापना उसने १२९५ ईस्वी में की। दूसरी ओर १२९६ ईस्वी में जब चीनी राजदूत कम्बोडिया में आए तो यहाँ जयवर्मा दशम का उत्तराधिकारी राज्य कर रहा था। इस प्रकार उसने ५२ वर्ष तक राज्य किया। उसने वृद्धावस्था के कारण राज्य का भार

अपने युवराज को सौंप दिया जो श्रीन्द्रजयवर्मा के नाम से सिंहासन पर बैठा। वृद्ध राजा के शासन में जो शैथिल्य आ चुका था उसको दूर कर युवा सम्राट् ने अपनी प्रजा की रक्षा की।

धात्री भृता क्षितिभृताथ पुरातनेन
प्रायो मनाप्यतिविस्तरकराटकत्वात्।
येनाप कराटकतयाभिनवा तु यूना
संरक्षिता खलु मनागपि नामनायम् ॥

उसने ग्यारह वर्ष तक राज्य किया और उसकी मृत्यु १२२३ शक संवत (अथवा १३०७ ईस्वी) में हुई।

नवद्विद्विहृदि स्वर्गं विजेतुमग (मन्नृपः) ।
यौवराज्यस्थिते दत्त्वा राज्यं यो भग (—⏑—) ॥
श्रीन्द्रभूपस्य वंशाद्य यो भूपो जय व (र्म्मनः) ।
श्रीश्रीन्द्रजयवर्म्माणं नाम श्लाघ्यमकारयत् ॥

चीन के राजदूत—इस सम्राट् के राज्य के आरम्भ में १२९६ ईस्वी में चीन के राजदूत कम्बोडिया की राजधानी यशोधरपुर में आए। उन्होंने कम्बुज साम्राज्य की अवस्था का जो वर्णन किया है वह उस समय के इतिहास के लिए बहुमूल्य है।

यज्ञवराह—कम्बुज साम्राज्य के अन्तिम दृश्य में जो मनुष्य हमारे सम्मुख आते हैं उन सब में प्रसिद्ध और प्रभावशाली राजगुरु यज्ञवराह है जिसने वागीश्वरी और दो विद्यागुरुओं की मूर्तियां स्थापित की थीं।

तेन यज्ञवराहेण भक्त्या वागीश्वरीनिमा।
विद्यागुरुद्वयस्यापि स्थापिता स्थितिवेदिना।

जाह्नवी और पृथिवीन्द्र पण्डित—यज्ञवराह की बहिन जाह्नवी ने दक्षिणी मन्दिर में एक शिवलिङ्ग स्थापित किया।

तस्य यज्ञवराहस्य जाह्नवीति यवीयसी।
स्वसा संस्थापयामास भक्त्या लिङ्गमिहैश्वरम्॥

परन्तु जैसा कि हम पहले वर्णन कर चुके हैं प्राचीन कम्बोडिया में विविध धार्मिक सम्प्रदाय एक साथ विना वैर और वैमनस्य के रहते थे। इस अवसर पर भी मन्दिर के एक प्रदेश में यज्ञवराह के एक सम्बन्धी ने जिसका नाम पृथिवीन्द्र पण्डित था विष्णु की मूर्ति स्थापित की।

जयति प्रथमः पुंसां यस्य शब्दगुणं पदम्।
परमं परमार्थज्ञैस्संदृष्टमिव मध्यमम्॥
तस्य यज्ञवराहस्य सम्बन्धी धर्म्मवान्धवः।
आख्यां श्रीपृथिवीन्द्राद्यां पण्डितान्तामवाप यः॥
तेनेह स्थापिता विष्णोः प्र (भव्) इष्णोरियं निमा।
भक्त्या भागवतार्य्येण सर्व्वशास्त्रार्थवेदिना॥

मधुरेन्द्रसूरी और धरणीन्द्रसूरी—राजदरबार के प्रभावशाली और विद्वान् समवाय में दो पण्डितों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। यह दोनों महाराज के परम सुहृद् थे। श्री मधुरेन्द्रराज पण्डित राजगुरु यज्ञवराह के अधीन काम करता था। उसकी बहिन सूर्यलक्ष्मी महाराज से व्याही गई थी। पांचवें शिलालेख में इनके विषय में कहा है—

श्रीधृतजयावनिपते रतिवल्लभश्श्री-
श्रीन्द्राधिपस्य धरणीन्द्रशिरोधृताङ्घ्रेः।
मन्त्री नरेन्द्रगुरुयज्ञवराहधीमद्-
वश्यो महाजनमतो नृपभोगिनीनाम-
ग्रया सुता पूर्णसुधांशुशुद्धा।
श्रीसूर्यलक्ष्मीर्हृदयाभिरामा
श्री श्रीन्द्रवर्म्मावनिपालभर्त्तुः॥

दूसरा पण्डित धरणीन्द्रसूरि महाराज का सचिव था। उसके विषय में कहा है--

श्रीमान् नरेन्द्रसचिवो धरणीन्द्रसूरि-
नामा समानमतिधर्मदयार्द्रचेताः।
भूयोऽन्यवेद्य दमात्यविशेषसार्थौ
धर्म्म्यां प्रवृत्तिमपि धर्म्मयशांसि गोप्त्रे॥

मंगलार्थ का मन्दिर—मंगलार्थ का मन्दिर अंगकोर थाम के उत्तरपूर्वी भाग में स्थित है। इस मन्दिर की स्थापना का कारण एक ब्राह्मण और उसकी माता को देवत्व-प्रदान था। उस ब्राह्मण के वंश का इतिहास अत्यन्त रोचक और निराला है। उसका संक्षिप्त वर्णन पहले किया जा चुका है।

उसका सविस्तर वृत्तान्त संस्कृत शिलालेख के शब्दों में ही नीचे दिया जाता है। इससे पाठकों को तत्कालीन कम्बोडिया की संस्कृत काव्य-शैली का भी कुछ ज्ञान हो जावेगा।

श्रीद्धो तिसूत्तमननु भावमहाननेको-
प्येकस्त्रिलोकनिलयोपि निरालयो यः ।
क्रीडत्यलं परमहंस उदारपद्मे
हृत्स्थेविदान्नमति चित्रमजन्ममामः ॥ १ ॥
श्रीद्धांश्रियां नमत ताम्परिपूर्णचन्द्र
जित् श्रीद्धशुद्धात्मकौस्तुभदर्पणस्य ।
त्रैलोक्य भातिग वपुश्श्रियमीक्षितुं या
स्यादिच्छुति नु दयिता पुरुषोत्तमस्य ॥ २ ॥
आसीच्छ्री जयवर्म्मेशो भानुर्यो रितमोगणान् ।
उदयाचल उद्भूतश्श्रीन्द्रराजपु (रे) हरत् ॥ ३ ॥
नेत्रान्तरेन्दुहृदये यो राज्यं परिलब्धवान् ।
धर्मेणापालयल्लोकान् पुत्रवद् (वर्द्ध) यन्नयैः ॥ ४ ॥
अतीवकान्तिकोषो यः कामो लोकमनस्स्थतः ।
साङ्गोनीशजितो न्यस्तभवो हृदि मुदानलः ॥ ५ ॥
धर्म्मैकात्मा भवन् योपि द्विपदेन कलौ युगे ।
द्वापरस्य युगस्यास्य लोकशङ्कमदात् सदा ॥ ६ ॥
प्रजानामीप्सितानां यो दानात् कल्पद्रुमो नृपः ।
सर्व्वथा स्वर्गलोकेन समतामकरोद्ध्रुवः ॥ ७ ॥
गुणरत्नाम्बुधेर्यस्य स्तुत्यो नापि वदन् शुचिः ।
निखिलं गुणमेवाब्धावशेषं को (च) रन् मणीन् ॥ ८ ॥
कश्चिद्वेदविदां श्रेष्ठो विप्रस्तस्य पुरोहितः ।
महाप्रधान शब्दान्तं श्रीजयाद्यभिधीन् दधत् ॥ ९ ॥

त्रिकतन्तुग्रामजातो देशे नरपतावभूत्।
भरद्वाजर्षिगोत्रं यो हृषिकेशादिसंज्ञकः ॥ १० ॥
कम्बुजद्वीपमाकीर्णं वरिष्ठवेदकोविदैः।
विद्याप्रकाशनायास्मिन् विदित्वा द्विज आगतः ॥ ११ ॥
विप्रा एकाननोत्सृष्टचतुर्वेद इवाहसत्।
यश्चतुर्वदनोत्सृष्टं चतुर्वेदं पितामहम् ॥ १२ ॥
पञ्च-सत्-चन्द्र-चन्द्रेऽब्दे (ग) तस्य श्रीन्द्रवर्म्मणः।
आराध्यच्छिवं शान्त्यै यो भीमपुरसंस्थितम् ॥ १३ ॥
राजेन्द्रग्रामजां तत्र काञ्चित् शैवान्वयां पराम्।
श्रीप्रभान्नाम सार्थां यो रा(म्र) आमुदावहत् सतीम् ॥ १४ ॥
या पुत्रांश्चतुरो यस्माद्वेदत्रयविदो वरान्।
असुत द्वे सुते सत्यौ सरूपिन्यौ नयान्विते ॥ १५ ॥
पुत्राणां प्रथमो ज्ञानी तस्य वेदविदां मतः।
वेदविद्या परीक्षायां······(भ)ट्टाभिधिः पटुः ॥ १६ ॥
तृतीयः प्रियवाग् (घोटा)······यविदग्र्यधीः।
श्रीनिशाकरभट्टो पि (सर्व) शास्त्रविशारदः ॥ १७ ॥
द्वयोः पुत्र्योर्द्वितीयापि महिषी जयवर्म्मणः।
श्रीचक्रवर्तिराजादि देवभिख्यातिवल्लभा ॥ १८ ॥
अन्यस्यां धर्म्मपत्न्यां यः सुव्रतायां वराननाम्।
एकां सुताञ्चाजनयत् सुतान् पञ्च गुणान्वितान् ॥ १९ ॥
श्री प्रभाव (र)जा साध्वीसुभद्रासुत तद्गुरोः।
जयमंगलार्थसूरेः सूनुमध्यापकाधिपात् ॥ २० ॥
यो·········न्द···भद्राख्यो विज्ञानजन्मशुद्धिमान्।
दान्तः पारङ्गतः शास्ता शास्त्रव्याकरणाम्बुधेः ॥ २१ ॥

श्रीश्रीन्द्रजयवर्म्मणो राज्ये सो ध्यापकाधिपः ।
जयमङ्गलार्थनामा पित्रा नाम्ना गुणैः समः ॥ २२ ॥
जीवन् वर्ष शतं ज्ञानी चतुर्वर्षाधिकं यमी ।
अतिवृद्धो... विप्रो यो जन्मना वेदविद्यया ॥ २३ ॥
वत्सलस्तस्य विप्रस्य यो······प्रतिमान्नृपः ।
प्रसूप्रतिमया सार्द्धं देव्या द्रव्यमुदीरयत् ॥ २४ ॥
राजा ब्राह्मण-शालाया भूमौ तन्मुकुटं परम् ।
प्रासादश्चैतमत्यन्तमद्धीतीयत्वशंसनम् ॥ २५ ॥
मर्त्य-ब्रह्म-गणान् वेदैरभिनन्द्य द्विजो ह्यजम् ।
ब्रह्मलोकस्थितं ब्रह्मलोकं नन्दयितुं गतः ॥ २६ ॥
सप्तैकवाहुचन्द्रेषु प्रासादे ऽस्मिन् यथावचः ।
वैशाखस्यादिपक्षस्य द्वादश्यां सुरमन्त्रिणि ॥ २७ ॥
चित्रे वर्ष-गतादित्य-सौर्य्योर्मिथुनस्थयोः ।
भौम राह्वोस्तुलास्थेन्दौ वृश्चिकस्थवृहस्पतौ ॥ २८ ॥
सौम्ये शुक्रे च केतौ च मेषस्थे स्थिरसूचके ।
करकटस्थे च लग्ने यो तिष्ठिपत्प्रतिमे नृपः ॥ २९ ॥
त्रिविक्रममहानाथं श्रीजयादिपदं नृपः ।
नामश्लाघ्यं द्विजस्यास्य प्रतिमायास्तदाकरोत् ॥ ३० ॥
श्रीजयादिपदं मध्य-त्रिविक्रमपदं वरम् ।
देवेश्वर्यन्तनामापि ब्राह्मणी-प्रतिमागतम् ॥ ३१ ॥
हेमरूप्यादिभोगांश्च प्रतिमाभ्यामदान्नृपः ।
अन्तवन्त्रवञ्जिवक्करों रुंग्रामांस्त्रीन् दासंयुतान् ॥ ३२ ॥
गुणिनीर्नर्त्तकीस्तूर्य्यवादकान् गुणसंयुतान् ।
यस्ताभ्यां गणसंयुक्तान् प्रतिमाभ्यामदात्तदा ॥ ३३ ॥

प्रतिमार्च्चनकारश्च तस्य विप्रस्य यः कुलम् ।
न······स्थितिं······शश्वत् कुलपतिं व्यधात् ॥ ३४ ॥
कु······आनि कार्य्याणि पुंसो भावेष्यनागते ।
काले······श्रीकुलं योग्यपूजाकारीति यो वदत् ॥ ३५ ॥
स्थापयित्वा तयोस्तत्र भूमिसीमाकृताभवत् ।
मन्त्रिणा (ले) ख केन्द्रेण शासनाज्जयवर्म्मणः ॥ ३६॥
एकाशी (त) स्समारभ्य प्राच्यभूम्यवधेरभूत् ।
व्यामानामष्टभिस्संख्या चत्वारिंशत्-कृताधिका ॥ ३७ ॥
एकाशीत् (अस्) समारभ्या (वधे) र्द्दक्षिणभूमितः ।
व्यामानां (अधि) का द्वाभ्यां दश संख्या कृताभवत् ॥ ३८ ॥
एका (शीतस) समारभ्यावधेः पश्चिमभूमितः ।
व्यामामानां (अधि) कैकेन त्रिंशत्संख्या कृताभवत् ॥ ३९ ॥
एकाशीतस्समारभ्यावधेरुत्तरभूमितः ।
व्यामानां (अधि) कैकेन दशसंख्या कृताभवत् ॥ ४० ॥
सूर्य्योर्······आदि द्रष्टुं (जामा) तृ श्रीन्द्रभूपतौ ।
विप्रभू ············राज्यं यो······ब्रह्मालयं गतः ।' ४१ ॥
... ...

... ...

जयवर्म्म कु········⏑———⏑——— ।
अलम्भाता सुपूर्णाया विष्णुकुण्··· ⏑—⏑— ॥ ४४॥
प्रादात् प्रतिदिनां भक्त्या य एक······⏑—⏑— ।
प्रतिमाभ्यां······पञ्च दासदास् (ई) ⏑—⏑— ॥४५॥
प्रज्ञानं कुशले सक्तिं कुर्वन् रक्षित —⏑— ।
जन्मना विद्यया वृद्धो भवद्धर्म्मेण —⏑— ॥४६॥

नव-द्वि-छि-हृदि स्वर्गं विजेतुमग (मन्नृपः)।
यौवराज्यस्थिते दत्वा राज्यं यो भग —⏑— ॥ ४७ ॥
श्रीन्द्रभूपस्य वंशश्च यो भूपो जय व (र्म्मणः)।
श्री श्रीन्द्राजय वर्म्मार्णा नाम श्लाघ्यमकारयत् ॥ ४८ ॥
त्रीन् शत्रून् यस्य सम्राज्ञी विजेतुर्नान्तरम् ⏑— ।
परार्थोशेसं......ईव तेजसा ॥ ४९ ॥
श्रीनिशाकरभट्टो पि (वि) प्रावधौ स समुद्भवः।
तन्नामात्वीशभक्त्यासीन् न् (इ) रङ्क्गो नूनमत्तयी ॥ ५० ॥
यो निशाकर सूरिन् त (म्) लोकेशव्य ⏑—⏑— ।
नाम्ना हो......म्त्ररे किञ्चिद्गणकोद्.......⏑—⏑— ॥ ५१ ॥
भूपेशस्तस्य तुङ्गत्वं वितन्वन् ..⏑—⏑— ।
श्री श्रीन्द्रशेखरन्नाम स्वद्य .... ⏑—⏑— ॥ ५२ ॥
श्री श्रीन्द्रशेखरश्शुक्लवस्त्रे.......⏑—⏑— ।
प्रासादं हेमरूप्यादि दाने वि...⏑—⏑— ॥ ५३ ॥
सहस्रगणितानेव विदुषो...⏑—⏑— ।
तर्प्पयन् हेम रूप्यादि-वस्त्रदा (न) ⏑—⏑— ॥ ५४ ॥
श्री जयादिसूरि शम्भुमत्र भक्त्या ⏑—⏑— ।
प्रतिसम्वत्सरं मासे......⏑—⏑— ॥ ५५ ॥
प्रजा वहुतरामग्र......न्यान् से......⏑—⏑— ।
संसाराव्धे (:) कुलं पारन्नयञ्ज्ञा... ॥ ५६ ॥
परपुण्यावनं कार्य्यं राज्ञापि नियतं कृत (म्)।
श्री श्रीन्द्रशेखरा...आत्या कार्य्याणां त्वन्नवर्धन् (श्रम्) ॥५७॥
... ... अतिष्ठिपत्।
... ... काले च रक्षार्थमस्य स्थानस्य तन्मये ॥ ५८ ॥

व्रः पद्म सम् (भू) ऋतग्रामं देवयज्ञविवर्द्धनम् ।
वहुधान्यसमायुक्त् (म् प्र) तिमा] भ्यामदान्नृपः ॥ ५६ ॥
भविष्यन्तो नृपा धर्म्मवीजं रक्षन्तु सर्व्वदा ।
भूमौ ब्राह्मणशालायां विप्राश्च नियतं स्थितः ॥ ६० ॥
पुण्यानु ·····परेषां फलमाप्नुयात् ।
······किमुतान्येषां पुण्यानां ह्यभिरक्षकः ॥ ६१ ॥

———